मध्यकालीन भारत

सातवीं कक्षा के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

मध्यकालीन भारत

सातवीं कक्षा के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

रोमिला थापर

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

जून 1988 : आषाढ़ 1910
PD 65T—RSS

प्रकाशन सहयोग

सी.एन. राव, **अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग**

प्रभाकर द्विवेदी **मुख्य सम्पादक**
आर.एस. सक्सेना **सम्पादक**
गोबिन्द राम **सम्पादक सहायक**

यू. प्रभाकर राव **मुख्य उत्पादन अधिकारी**
सुरेन्द्रकान्त शर्मा **उत्पादन अधिकारी**
टी.टी. श्रीनिवासन **सहायक उत्पादन अधिकारी**
राजेन्द्र चौहान **उत्पादन सहायक**

आवरण : शान्तो दत्त एवं सी.पी. टण्डन

पारदर्शियाँ : बी. अशोक

भारतीय लघुचित्रकारी : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

मूल्य : 7.80

प्रकाशन विभाग से सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा एस.पी. इलेक्ट्रोनिक्स, दरिया गंज, नई दिल्ली द्वारा फोटोकम्पोज होकर सरस्वती ऑफसेट, नारायणा इन्डस्ट्रियल एरिया फेज II, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित

प्राक्कथन

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 के सफल क्रियान्वयन के लिए, पाठ्यसामग्री और शिक्षण-विधि का पुनर्विन्यास बड़ा महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने, इस दिशा में, प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों के लिए, राष्ट्रीय-पाठ्यक्रम की एक रूपरेखा पहले ही प्रस्तुत की है। विद्यालयी शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न विषयों में पाठ्यचर्या-निर्देशिकाएँ तथा विभिन्न विषयों के लिए विस्तृत पाठ्यचर्याएँ भी तैयार की गई हैं। नई पाठ्यपुस्तकों तथा अन्य शिक्षण सामग्री को विभिन्न चरणों में एक सुनिश्चित समयानुसार प्रकाशित किया जा रहा है।

कक्षा 6 और उसके आगे की कक्षाओं में, सामाजिक-विज्ञान के एक पृथक विषय के रूप में इतिहास पढ़ाया जा रहा है। परिषद् की पाठ्यचर्या-निर्देशिकाओं तथा इतिहास की विस्तृत पाठ्यचर्या के अनुसार यह सिफारिश की गई है कि उच्च प्राथमिक स्तर (कक्षा 6-8) पर भारत के इतिहास को पढ़ाया जाए। परिषद् ने यह सिफारिश भी की है कि प्राचीन भारत के इतिहास को कक्षा 6 में, मध्यकालीन भारत के इतिहास को कक्षा 7 में तथा आधुनिक भारत के इतिहास को कक्षा 8 में पढ़ाया जाए। एक समग्र राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के निर्माण के लिए, राष्ट्रीय शिक्षा नीति में एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा के साथ-साथ केन्द्रिक पाठ्यक्रम के क्षेत्रों के महत्त्व पर अधिक बल दिया गया है। केन्द्रिक पाठ्यक्रम में ऐसे अनेक क्षेत्र और मूल्य हैं, जो इतिहास की पढ़ाई से सीधे संबंधित हैं। यह संबंध ज्ञान को बढ़ावा देने और भारत की समान सांस्कृतिक विरासत की समझ जैसे उद्देश्यों में स्पष्ट रूप से प्रकट है। इससे केन्द्रिक विषयों के अन्य अपेक्षित उद्देश्यों की भी पूर्ति होती है, जैसे कि विषय के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है, और लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समानता एवं सामाजिक बाधाओं को दूर करने में सहायता मिलती है। धार्मिक उग्रवाद, अंधविश्वास, संकीर्ण मनोवृत्ति और पीछे ले जाने वाली ऐसी अनेक प्रवृत्तियों से संघर्ष करने का बल भी मिलता है।

प्रारम्भ से ही परिषद् को इतिहास के अनेक सर्वोच्च विद्वानों का सानिध्य और सहयोग मिलता रहा है। इन विद्वानों ने विद्यालयों में इतिहास की पढ़ाई से संबंधित अनेक कार्यक्रमों में हमारा मार्गदर्शन किया है। राष्ट्रीय परिषद् की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यचर्याओं में नवीनतम शोध और विषय के प्रति वैज्ञानिक

दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया है। पाठ्यपुस्तकों में परम्परागत अथवा वंशानुगत इतिहास को पढ़ाने की बजाय संस्थाओं, मूल्यों, प्रवृत्तियों पर बल देते हुए, विकास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इसी कारण विद्यालयों में इतिहास शिक्षण का पुनर्विन्यास संभव हो सका है, जिसकी आवश्यकता काफी दिनों से महसूस की जा रही थी। नई पाठ्यचर्याओं और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में, परिषद् को देश के विभिन्न भागों के अनेक प्रख्यात विद्वानों और शिक्षकों ने सहायता की है।

मध्यकालीन भारत के इतिहास की इस पाठ्यपुस्तक को प्रोफेसर रोमिला थापर ने लिखा है। इसके प्रथम संस्करण का निर्माण एक संपादकीय मंडल ने किया था, जिसके अध्यक्ष डा. एस. गोपाल थे। डा. एस. नुरुल हसन, डा. सतीश चंद्र और डा. रोमिला थापर उसके सदस्य और डा. के. मैत्रा सचिव थे। वह पुस्तक सर्वप्रथम 1967 में प्रकाशित हुई थी।

यह पाठ्यपुस्तक भारत के इतिहास के प्राचीन काल के अंत से आधुनिक काल के प्रारम्भ तक अर्थात् लगभग आठवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के काल से संबंधित है। यह पाठ्यपुस्तक तथा मध्यकालीन और आधुनिक भारत पर परिषद् की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें छात्रों को उच्च प्राथमिक स्तर के तीन वर्षों में हमारे देश और जन जीवन के इतिहास से परिचित कराएंगी।

परिषद् श्रीमती इंदिरा अर्जुन देव की आभारी है जिन्होंने प्रकाशन के विभिन्न स्तरों पर सहयोग दिया और चित्रों के चयन और निर्माण में सहायता की। श्री अभिषेक दास ने पुस्तक के लिए रेखाचित्र बनाए हैं। परिषद् उनके प्रति आभार प्रकट करती है। इस पुस्तक में प्रयुक्त मध्यकालीन सिक्कों के चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली ने प्रदान किए हैं। शेष सभी चित्र भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने उपलब्ध कराए हैं। परिषद् इन सबके प्रति कृतज्ञ है।

परिषद् इस पाठ्यपुस्तक के संबंध में पाठकों द्वारा की गई टिप्पणियों और दिए गए सुझावों का स्वागत करेगी।

पी.एल. मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

विषय-सूची

प्राक्कथन		V
अध्याय 1	भारत और संसार	1
अध्याय 2	दक्षिणी भारत के राज्य (800 ई. से 1200 ई. तक)	9
अध्याय 3	उत्तर भारत के राज्य (800 ई. से 1200 ई. तक)	22
अध्याय 4	दिल्ली के सुल्तान	38
अध्याय 5	जनता का जीवन	54
अध्याय 6	मुगलों और यूरोप-वासियों का भारत में आगमन	69
अध्याय 7	अकबर	94
अध्याय 8	वैभव-विलास का युग	107
अध्याय 9	मुगल साम्राज्य का पतन	127
महत्त्वपूर्ण तिथियाँ		136

मानचित्रों में आन्तरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।

अध्याय 1

भारत और संसार

इतिहास में मध्यकाल अथवा मध्ययुग शब्द का प्रयोग उस काल के लिए किया जाता है जो प्राचीन काल और आधुनिक काल के बीच का युग है। हम कैसे जान सकते हैं कि कब प्राचीन काल समाप्त होता है और कब मध्यकाल का आरंभ होता है? हमने ईसा की आठवीं शताब्दी को मध्यकाल का आरंभ तथा अठारहवीं शताब्दी को उसका अंत मान लिया है। ऐसा क्यों? जब तुम इस पुस्तक को पढ़ोगे, तुम देखोगे कि आठवीं शताब्दी के आसपास भारत के सामाजिक जीवन में बहुत-से परिवर्तन हो रहे थे। इन परिवर्तनों ने भारत के इस काल के सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों को प्रभावित किया था। जीवन के राजनीतिक और आर्थिक पक्षों पर उनका प्रभाव पड़ा। सामाजिक नियम, धर्म, भाषा, कला—थोड़े में हम कह सकते हैं कि जीवन के सभी क्षेत्रों को इन परिवर्तनों ने प्रभावित किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के इतिहास का एक नया युग आरंभ हुआ। हम कह सकते हैं कि ये परिवर्तन आठवीं शताब्दी के आसपास हुए। इसीलिए हमने आठवीं शताब्दी को मध्यकाल का प्रारंभ माना है।

जिस प्रकार एक व्यक्ति एक वर्ष में अचानक नहीं बदल जाता उसी प्रकार समाज भी अल्प समय में नहीं बदलता। उसके बदलने में समय लगता है। नए विचारों से समाज के सभी व्यक्ति एक साथ प्रभावित नहीं होते। यों तो भारत के इतिहास में कुछ परिवर्तन आठवीं शताब्दी से भी पहले आरंभ हो गए थे पर देश के कुछ भागों में उनका प्रभाव कुछ समय बाद ही अनुभव किया गया। इसलिए सामान्य दृष्टि से देखते हुए हम कह सकते हैं कि नए विचारों का बीजारोपण आठवीं शताब्दी में हुआ। इसी प्रकार मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के आने के समय अठारहवीं शताब्दी में भी अनेक परिवर्तन हुए। इसी कारण हम मध्यकाल का अंत इसी शताब्दी में मानते हैं।

मध्यकालीन भारत का इतिहास प्राचीन भारत के इतिहास से अनेक प्रकार से भिन्न है क्योंकि हम मध्यकाल की घटनाओं से

अधिक परिचित हैं। भारत में बोली जाने वाली वर्तमान काल की सभी भाषाओं का विकास इसी काल में हुआ। आज प्रयोग में आने वाले खाद्य पदार्थ एवं वस्त्र इसी काल से लोकप्रिय हुए। हम लोगों में प्रचलित अनेक धार्मिक विश्वासों का विकास भी इसी काल से हुआ। प्राचीन भारत की अपेक्षा हमको मध्यकालीन भारत की अधिक जानकारी प्राप्त है अतः इसके संबंध में हमारा ज्ञान भी अधिक है। मध्यकाल हमारे अधिक निकट है अतः इस काल का इतिहास जानने के लिए अनेक साधन मिलते हैं और हमारे सामने इस काल का चित्र अधिक स्पष्ट आता है।

तुम्हें स्मरण होगा कि प्राचीन काल के इतिहास की सामग्री हमको दो प्रमुख साधनों से प्राप्त हुई। पहला साहित्यिक और दूसरा पुरातत्त्वीय। मध्यकाल के संबंध में भी यही सत्य है। मध्यकाल के आरंभिक भाग अर्थात् ईसा की 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक की अनेक सूचनाएँ हमको अभिलेखों से प्राप्त होती हैं। ये लेख या तो ताम्रपत्रों पर लिखे गए थे या शिलाओं पर और ये सारे भारत के गाँवों और मंदिरों में बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं कि इन अभिलेखों का अध्ययन इस काल में इतिहास जानने का एक मुख्य साधन बन गया है।

मध्यकाल के इतिहास को जानने के लिए विभिन्न प्रकार के साहित्यिक साधन भी प्राप्त हैं। यह साहित्य आरंभ में ताड़ पत्रों और भोज पत्रों पर लिखा गया था पर तेरहवीं शताब्दी से कागज पर लिखा जाने लगा। इन पुस्तकों में से अनेक अब तक मौजूद हैं। इनमें से कुछ में राजाओं के जीवन और राजवंशों द्वारा किए गए कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। कुछ में प्राचीन संस्मरण हैं और कुछ में आत्म-चरित्र के रूप में शासकों के जीवन के वर्णन हैं जैसे बाबर और जहाँगीर के संस्मरण। इस काल में भारत की यात्रा करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा-वर्णन भी मिलते हैं। कुछ धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथ भी हैं जिनमें से अनेक छोटे-छोटे चित्रों से जिनको लघु-चित्र कहते हैं, सजे हुए हैं। इस काल के इतिहास के अध्ययन को सरल बनाने के लिए इसको दो भागों में बाँट दिया गया है। आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक के काल को पूर्व मध्यकाल कहते हैं। इसके अंतर्गत प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट राजाओं के शासन-काल, उनके द्वारा कन्नौज के लिए किए गए पारस्परिक संघर्ष तथा उत्तर भारत के राजपूत राज्यों और दक्षिण भारत के चोल साम्राज्य का इतिहास आता है। तेरहवीं शताब्दी के बाद के काल को उत्तर मध्यकाल कहते हैं जिसके अंतर्गत दिल्ली के सुल्तानों, वहमनी और विजयनगर के राज्यों और मुगल साम्राज्य का इतिहास आता है।

पूर्व मध्यकाल में भारतीय समाज में जो परिवर्तन हुए उनके विकास के कारण प्राचीन प्रणाली में निहित थे। इस पर इतिहास की पुस्तक 'प्राचीन भारत' में

विचार किया जा चुका है। उत्तर मध्यकाल में ये परिवर्तन समाज के द्वारा इस प्रकार स्वीकार कर लिए गए कि उनमें कुछ नवीनता ही न रही। अब कुछ और नवीन विचार एवं परिवर्तन समाज में आए जो भारत के बाहर से नवीन राजवंशों द्वारा लाए गए। ये राजवंश उस समय इस विशाल देश के कुछ भागों पर शासन कर रहे थे। प्रमुख रूप से ये शासक तुर्क, अफगान तथा मुगल थे जो भारतवर्ष में आकर बस गए थे। जो विचार ये अपने साथ लाए उनसे भारतीय समाज में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु उनसे भारतीय संस्कृति और अधिक समृद्ध बन गई। इसीलिए बावजूद इस बात के कि इस देश के तेरहवीं शताब्दी के बाद के शासक प्रायः विदेशी ही थे हम इसको भारतीय इतिहास का मध्य युग कहते हैं। केवल शासकों के अदल-बदल जाने से साधारणतया सामाजिक जीवन में परिवर्तन नहीं होते। पूर्व मध्यकाल में तुर्क और मुगल भारतीयों पर शासन करते हुए भी उन्हीं की तरह जीवन व्यतीत करते थे। तुर्कों और मुगलों ने भारत को अपना देश बना लिया और वे स्वयं भारतीय समाज के अंग बन गए।

इस काल में विदेशियों के भारत में आने के कारण भारत का बाहरी संसार से घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया। भारत में विदेशियों के आगमन को समझने के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि इस समय पश्चिम एशिया, यूरोप, मध्य एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया में किस प्रकार की घटनाएँ हो रही थीं।

जैसा कि हमने पहली पुस्तक में देखा है, ईसा की सातवीं शताब्दी में अरब में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी। पैगंबर मुहम्मद ने एक नवीन धर्म इस्लाम का उपदेश दिया। इससे अरब जातियों का संगठन हुआ और शीघ्र ही उनका राजनैतिक समूह बन गया। उन्होंने पश्चिमी एशिया के अनेक भागों जैसे जोर्डन, सीरिया, इराक, तुर्की, फारस, सिन्ध और मिस्र आदि को भी जीत लिया। पैगंबर की मृत्यु के पश्चात् अरब जातियों पर एक के बाद एक कई खलीफा शासन करते रहे (ख़लीफा का शाब्दिक अर्थ है उत्तराधिकारी अथवा प्रतिनिधि शासक)। पहले चार खलीफा हज़रत मुहम्मद के साथी थे। उनके बाद उमैय्यदों का शासन-काल आया। ये दमिश्क से शासन करते थे। उमैय्यदों के बाद अब्बासी वंश के शासकों ने बगदाद से शासन किया। हारुन-उल-रशीद जिनका दरबार सारे संसार में प्रसिद्ध था, बगदाद के खलीफा थे।

धीरे-धीरे अरबों ने अन्य प्रदेश, विशेष रूप से उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र, जीत लिए। शीघ्र ही वे स्पेन में पहुँच गए और फ्रांस की ओर बढ़े किन्तु वे फ्रांस के दक्षिण में रोक लिए गए। अरबों का उद्देश्य केवल विजय प्राप्त करना ही नहीं था। वे अपने साम्राज्य के अंदर व्यापार पर अधिकार करके उसको प्रोत्साहित भी करते थे। शीघ्र ही अरब लोग संसार के विभिन्न भागों—भारत, चीन,

यूरोप तथा पूर्व और पश्चिम अफ्रीका—से व्यापार करने लगे। इस व्यापार से अरब लोग धनवान हो गए और उन्होंने एक नवीन सभ्यता के विकास में अपने धन का उपयोग किया। इस काल में यूनान, फारस, चीन तथा भारत की विद्या में उन्होंने विशेष रुचि दिखलाई और अपने विद्या-केन्द्रों में उसका और अधिक विकास किया। इस युग में अरब सभ्यता संसार की सबसे अधिक विकसित सभ्यताओं में से थी।

इस समृद्धि और सांस्कृतिक विकास के बीच अरब निवासियों को दो दलों से युद्ध करने की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहला समूह था यूरोप-निवासियों का और दूसरा मंगोलों का। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ यूरोप की शक्ति का ह्रास हो चुका था। रोम के ऊपर हूण, (उसी जाति की एक शाखा जिसने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था) गाथ, वैंडल्स आदि जातियों के लगातार आक्रमण होते रहे और सन् 500 ई० के लगभग रोमन साम्राज्य का अंत हो गया। इसके परिणामस्वरूप यूरोप को बड़ी हानि हुई। पाँचवीं से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी का समय यूरोप के इतिहास का अंधकार काल कहा जाता है। लगातार युद्धों के कारण यूरोप में राजनैतिक सुरक्षा नहीं थी, नियम और कानून की कोई व्यवस्था नहीं थी और विशेष रूप से किसानों का कभी-कभी अनाज भी लूट लिया जाता था। व्यापार की अवनति हुई जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के बड़े-बड़े नगरों का भी पतन हो गया। ज्ञान का महत्त्व बहुत घट गया क्योंकि साधारण व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं रही। ज्ञानार्जन केवल धार्मिक केन्द्रों, मठों और गिरजाघरों तक सीमित रह गया। इस काल में जिस सांस्कृतिक जीवन का विकास हुआ वह केवल ईसाई धर्म से संबंधित था। ईसाई पादरी सारे महाद्वीप में यात्रा करते थे और लोगों को ईसाई बनाते थे। फलतः ईसाई धर्म लोकप्रिय होता गया। जर्मनी के कुछ राजाओं ने ईसाई धर्म के प्रचार में उत्साह दिखाया और दसवीं शताब्दी ईसवी में जर्मनी, इटली तथा कुछ अन्य क्षेत्रों को मिलाकर एक साम्राज्य की स्थापना की गई जो पवित्र रोमन साम्राज्य कहलाया।

यूरोप के अंधकार युग का दूसरा प्रमुख परिवर्तन सामंतवादी व्यवस्था (फ्यूडलिज्म) की उत्पत्ति थी। फ्यूडलिज्म (Feudalism) शब्द लैटिन भाषा के फ्यूडम (Feudum) शब्द से बना है जिसका अर्थ है "जमीन का एक टुकड़ा जो किसी सेवा के बदले दिया गया हो।" राजा अफसरों को नकद वेतन के बदले जमीन देता था। जमीन उन अन्य लोगों को भी दी जाती थी जिनको राजा पुरस्कृत करना चाहता था। इसलिए किसानों को, जमींदारों या उन व्यक्तियों के लिए जिन्हें जमीन दे दी जाती थी और जो सामंत कहलाते थे, काम करना पड़ता था। सामंतों का कर्त्तव्य राजा के लिए सैनिक एकत्र करना था। बहुत-से किसान मजदूर होते थे और उनको सामंत

की भूमि पर काम करना पड़ता था। किसान न गुलाम होते थे और न उन पर जमींदार का अधिकार होता था पर कभी-कभी उनके साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता था। सामंतीय व्यवस्था की सारी सुविधाएँ इन जमींदारों को ही प्राप्त थीं। भूमि पर किसान कठिन परिश्रम करते थे पर धन का समान वितरण नहीं था। जमींदार और राजा धन का अधिकांश भाग ले लेते थे और विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। किसान गरीब ही बने रहे।

अधंकार युग में यूरोप का अरब जगत से संबंध टूट गया पर बाद में यूरोप के लोग अरब देशों में रुचि लेने लगे। यूरोप के निवासियों में यह रुचि धर्म और व्यापार के कारण उत्पन्न हुई। व्यापार के कारण अरब लोग धनवान हो गए थे। इस कारण यूरोप के कुछ व्यापारी भी इस व्यापार में भाग लेना चाहते थे। यूरोप के नए बने ईसाई इस्लाम धर्म के प्रचार के कारण चिन्तित थे। इस कारण अनेक धर्म युद्ध संगठित किए गए। इन धर्म युद्धों को क्रूसेड कहते हैं। इन युद्धों में यूरोप के राजा और वीर सरदार अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर पूर्वी भूमध्य सागरीय प्रदेशों में मुसलमानों से लड़ने जाते थे। इन्हें धर्म युद्धों में भूमि प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली पर इन युद्धों से यूरोप- निवासी अरब-निवासियों के अधिक निकट संपर्क में आए और वे अरब व्यापार में भाग लेने लगे। यूरोप के लोग अरब-विद्याओं में भी रुचि लेने लगे। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में विद्या का विकास करने में अरब-निवासियों के ज्ञान का महत्त्वपूर्ण हाथ है।

नवीं शताब्दी में अब्बासी खलीफाओं की शक्ति घट गई। उनका राज्य क्षेत्र जो प्रांतों में विभाजित था, उनके नियंत्रण में न रहा और सभी प्रांत स्वतंत्र हो गए (उन प्रांतों में गजनी और गौर के प्रांत भी थे)। सलजक तुर्क जो मध्य एशिया में शक्तिशाली थे, पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने इनमें से कुछ प्रांतों पर अपना शासन स्थापित कर लिया। ग्यारहवीं शताब्दी तक सलजक तुर्क पश्चिम एशिया में शक्तिशाली बन रहे थे और अपने शासन की स्थापना कर रहे थे। उन्होंने फारस, इराक, सीरिया और बैजंटाइन साम्राज्य पर आक्रमण किया और शीघ्र ही उस क्षेत्र में बस गए। बैजंटाइन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया (आधुनिक इस्तंबोल) थी और किसी समय वह साम्राज्य वैभव और विस्तार में रोम साम्राज्य का प्रतिद्वंद्वी था। बैजंटाइन सभ्यता प्राचीन यूनानी सभ्यता की नींव पर खड़ी हुई थी। पूर्वी भूमध्यसागर, रूस तथा स्कैंडिनेविया के व्यापार पर उसका अधिकार था और चीन से लेकर फारस तक मध्य-एशिया से होकर आने वाले व्यापारियों के व्यापार में भी यह साम्राज्य भाग लेता था और इसी कारण यह वैभव-संपन्न बनता जा रहा था। तेरहवीं शताब्दी में चंगेज खाँ के नेतृत्व में मध्य एशिया के मंगोलों ने फिर बैजंटाइन पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने पश्चिम एशिया में सलजक तुर्कों को कमजोर कर दिया। इससे केवल

आटोमन तुर्क ही बच सके जो अनातूलिया में बस गए थे और जिनको 1453 ई० में कुस्तुनतुनिया को विजय करने में सफलता मिली। पश्चिमी एशिया के इस भाग पर वे अपना अधिकार जमाए रहे।

इस बीच में मंगोलों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने पश्चिमी एशिया और दक्षिण रूस से लेकर मध्य एशिया के उस पार चीन तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। तेरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक मंगोल चीन पर शासन करते रहे। सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक टाँग और सुंग वंशों के शासन काल में चीन भी वैभवशाली और शक्तिशाली देश रहा था। इससे चीन पर विजय प्राप्त करके मंगोलों ने अपनी राजनैतिक शक्ति भी बढ़ा ली और वे धनवान भी हो गए। इस समय मध्य एशिया के क्षेत्र का महत्त्व बढ़ गया था क्योंकि चीन और पश्चिमी एशिया का व्यापार इसी क्षेत्र द्वारा हो रहा था। व्यापार करने वाले काफिले (कारवाँ) जिस मार्ग से होकर जाते थे उसको रेशम का मार्ग कहते थे क्योंकि चीन का रेशम व्यापार की महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। इसके अतिरिक्त चीन के नवीन आविष्कार भी अन्य वस्तुओं के साथ पश्चिम एशिया में आए। बारूद, कागज और कंपास (कुतुबनुमा) बनाने की तथा छापने की कला आदि सब चीन से यूरोप पहुँचे। इसलिए व्यापार के कारण मध्य एशिया के क्षेत्र पर अपना अधिकार रखना बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया था। मंगोलों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया इसलिए उन्होंने चीन के कुछ भागों और मध्य एशिया में रहने वाली जातियों को इस्लाम धर्म का मानने वाला बना लिया।

चीन के व्यापार में केवल रेशम के मार्ग का ही प्रयोग नहीं किया जाता था बल्कि चीन के व्यापारी जहाजों से भी अपना सामान ले जाते थे। ये जहाज कैंटन अमॉय तथा दक्षिणी चीन के अन्य बंदरगाहों से चलते थे। इनमें से कुछ जहाज भारत और पूर्वी अफ्रीका तक की यात्रा करते थे और अन्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के बंदरगाहों में रुक जाते थे। अनाम, लाओस, कंबोडिया, जावा-सुमात्रा और मलाया जैसे देशों में चीन और भारत के व्यापारियों में प्रतिद्वंद्विता चलती थी। ये व्यापारी केवल सामग्री ही नहीं, अपने साथ अपने-अपने देश की सभ्यता और संस्कृति भी लाते थे। चौदहवीं शताब्दी में अरब के व्यापारियों ने भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने पैर जमा लिए थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य काल में संपूर्ण संसार के विभिन्न देश एक दूसरे के निकट आ रहे थे। व्यापार के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के लोगों का पारस्परिक संपर्क स्थापित हो रहा था। अब कोई देश अकेला नहीं रह सकता था।

भारत भी इन सब घटनाओं के बीच में खिंच आया। भारत का अरब और चीन के साथ संबंध व्यापार के माध्यम से ही स्थापित हुआ। तुर्की और मध्य एशिया के मुगलों ने इस व्यापार को प्रोत्साहित किया।

कुछ समय बाद वे भारत में विजयी बन कर आए। उनका भारत में आना यूरोप-निवासियों के आने की तरह ही था जो पहले व्यापारी बन कर आए और फिर शासक बन गए।

पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत अनेक राज्यों में बँटा हुआ था। ये राज्य प्रायः एक दूसरे से लड़ा करते थे। दक्षिण भारत में इस काल में शक्तिशाली चोल राजाओं का शासन था। उन्होंने दक्षिण भारत के विस्तृत क्षेत्र को जीत लिया और उनकी सेनाएँ उत्तर भारत में गंगा नदी तक आ गईं। वे लोग बड़े धनवान थे क्योंकि दक्षिण भारत के व्यापारी इस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों और चीन के साथ व्यापार करते थे। उनका धन बहुत बड़ी मात्रा में उन सुंदर मंदिरों के निर्माण करने में व्यय होता था जो ज्ञानार्जन के केन्द्र भी थे। इस समय वहाँ ऐसे विचारक और दार्शनिक विद्यमान थे जिनकी शिक्षा और उपदेशों ने संपूर्ण भारतीय विचारधारा को प्रभावित किया। दक्षिण भारत में ही मध्यकाल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति और भी अधिक संपन्न होकर विकसित हुई।

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **धर्म युद्ध (क्रूसेडूस)**—ग्यारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच में पवित्र भूमि (विशेषरूप से जेरूसलम) को इस्लाम धर्म मानने वालों से पुनः प्राप्त करने के लिए यूरोप के ईसाइयों द्वारा किए गए युद्ध।
2. **अंधकार युग**—पश्चिम यूरोप के इतिहास में उस युग को कहते हैं जो पश्चिम के रोम साम्राज्य (476ई०) के पतन से आरंभ होकर यूरोप में विद्या में पुनर्जागरण काल के आरंभ के साथ समाप्त होता है।
3. **अभिलेख**—कुछ सूचना देने के उद्देश्य से किसी कठोर और स्थाई वस्तु (साधारणतया पत्थर अथवा धातु) पर प्रचलित संकेतों अथवा अक्षरों में खुदे हुए लेख।
4. **खलीफा**—हजरत मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम समाज के सर्वोच्च नेता की उपाधि। सबसे पहला खलीफा अबूबकर था।
5. **सामंतवाद** (फ्यूडलिज्म)—नवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमी यूरोप में विकसित होने वाली एक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था जिसका पतन तेरहवीं शताब्दी में हो गया।

II. नीचे लिखे स्तंभ 'अ' और 'आ' में दिए गए तथ्यों में सही संबंध स्थापित करो:

अ	आ
(1) हमारे बीच प्रचलित अनेक धार्मिक विश्वासों का आरंभ	(1) भारत को संसार के अन्य देशों के निकट संपर्क में ले आया।

(2) हमारे इतिहास का पूर्व मध्यकाल	(2) बगदाद का खलीफा था।
(3) मध्यकाल में भारत के बाहर से लोगों का आगमन	(3) मध्यकाल से होता है।
(4) हारुन-उल-रशीद जिसका दरबार संपूर्ण संसार में प्रसिद्ध था।	(4) यूरोप के इतिहास में प्राय: अंधकार युग कहलाता है।
(5) पाँचवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक का समय	(5) आठवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच में माना जाता है।

III. कोष्ठ में दिए हुए सही शब्द या शब्दों से नीचे लिखे वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति करो:

1. मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के आगमन के साथ................शताब्दी में देश में अनेक परिवर्तन हुए। (आठवीं, दसवीं, अठारहवीं)।
2. अंधकार युग में................में होने वाला दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन सामंतवादी व्यवस्था का विकास था। (एशिया, अफ्रीका, भारत, यूरोप)।
3. ....उस बैजंटाइन साम्राज्य की राजधानी थी जो किसी समय................ का प्रतिद्वंद्वी था। (कुस्तुनतुनिया, अनातूलिया, बगदाद, भारत, चीन, रोम)।
4. 13वीं शताब्दी के मध्य से 14वीं शताब्दी के मध्य तक मंगोल................में शासन करते रहे। (भारत, चीन, इराक, तुर्की)।
5. पैगंबर की मृत्यु के बाद................के ऊपर खलीफाओं का शासन चलता रहा। (भारतवासियों, अफ्रीका के निवासियों, चीन के निवासियों, अरब के निवासियों)।

IV. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:

1. अरबों ने अपनी शक्ति का विस्तार किस प्रकार किया?
2. मंगोल कौन थे? उन देशों के नाम बतलाओ जिन पर उन्होंने आक्रमण किया।
3. ईसा की पाँचवीं से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का काल यूरोप के इतिहास का अंधकार-युग क्यों कहा जाता है?
4. भारतवासियों का संपर्क अरब और चीन के निवासियों के साथ किस प्रकार स्थापित हुआ?

V. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. यूरोप, एशिया और अफ्रीका के मानचित्र में उन स्थानों को दिखलाओ जिन पर अरब निवासियों ने विजय प्राप्त की थी।
2. संसार के मानचित्र में उस मार्ग का प्रदर्शन करो जिसके द्वारा विदेशी भारत में व्यापार करने के लिए आए।

अध्याय 2

दक्षिण भारत के राज्य
(800 ई० से 1200 ई० तक)

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में हमारे विशाल देश के उत्तरी और दक्षिणी अर्द्धभाग अधिक निकट संपर्क में आ गए। विन्ध्याचल पर्वत ने अब इस संपर्क में बाधा डालने का काम नहीं किया। यह क्षेत्र उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच संबंध स्थापित करने का साधन बन गया। यह कथन विशेष रूप से आगे लिखे तीन कारणों से स्पष्ट हो जाता है। पहला यह कि दक्षिण भारत के उत्तरी राज्यों ने अपने राज्य अधिकार को गंगा नदी की घाटी तक फैलाने का प्रयत्न किया। दूसरा यह कि दक्षिण भारत के धार्मिक आंदोलन उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बन गए और तीसरा यह कि उत्तर भारत के बहुत-से ब्राह्मण दक्षिण भारत में बस जाने के लिए आमंत्रित किए गए और उनको भूमि प्रदान की गई। इस विशाल देश के राज्य अब एक दूसरे से उस प्रकार अलग नहीं रहे जिस प्रकार वे प्राचीन काल में थे।

प्रायद्वीप के राज्य

दक्षिण प्रायद्वीप के राज्यों में उत्तरी क्षेत्र का राष्ट्रकूट राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य था जिसने गंगा की घाटी के एक भाग पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे, राष्ट्रकूट बार-बार दो शक्तिशाली वंशों–प्रतिहारों और पालों–से कन्नौज और उसके आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार पाने के लिए लड़ते रहते थे। प्रतिहारों ने पश्चिमी और मध्य भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था और पालों ने पूर्वी भारत में। किन्तु राष्ट्रकूटों को दक्षिण के शक्तिशाली चोल शासकों के विरुद्ध भी अनेक युद्ध करने पड़े थे। चोल राजाओं ने तंजौर के आसपास के क्षेत्र तमिलनाडु से अपना शासन आरंभ किया। धीरे-धीरे उन्होंने पल्लव वंश के शासक और अन्य स्थानीय शासकों को पराजित करके अपने को
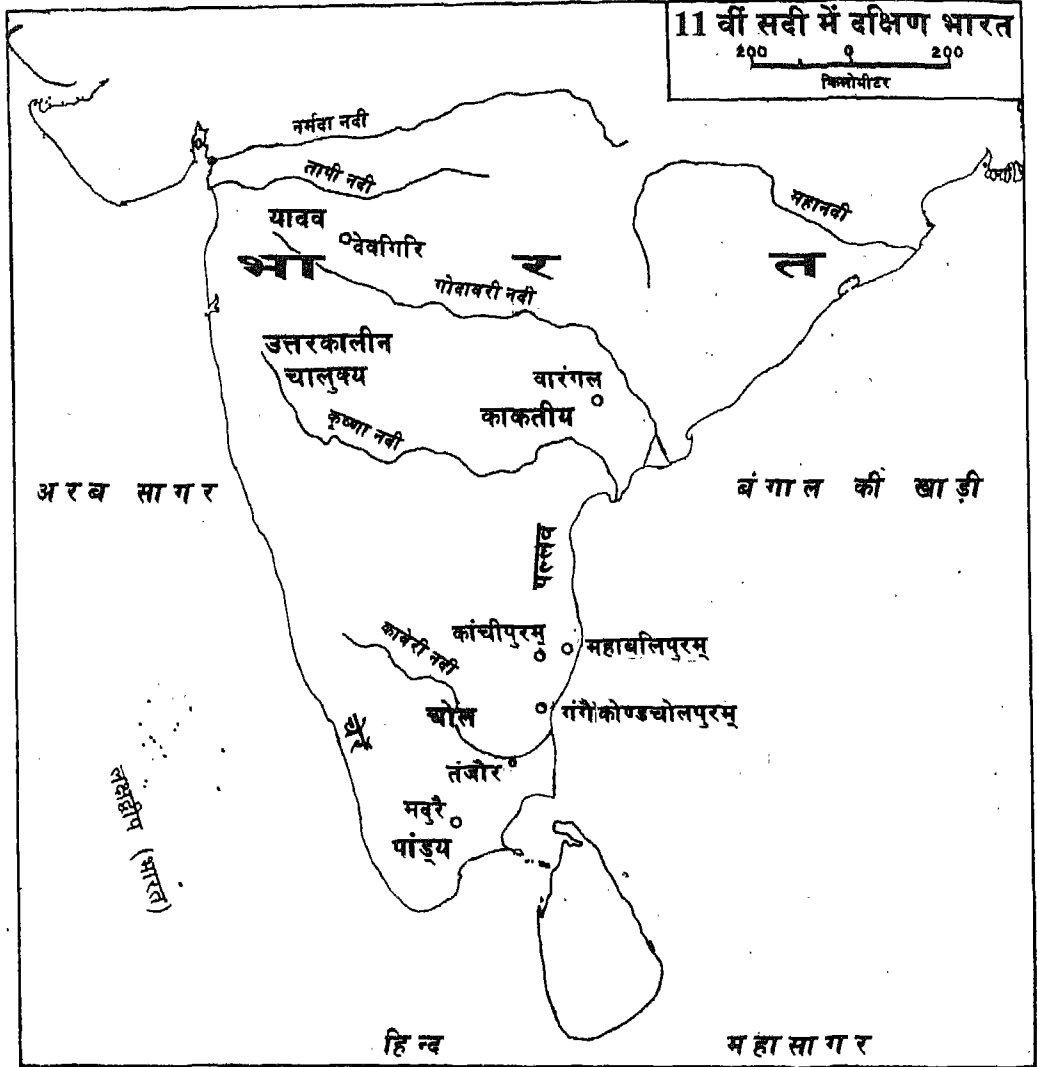
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

शक्तिशाली बना लिया। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साम्राज्य उन्हीं का था। आधुनिक मदुरै क्षेत्र में चोल साम्राज्य के दक्षिण में पांड्य राज्य था। पश्चिमी किनारे पर आधुनिक केरल प्रांत में चेर वंश का राज्य था। बारहवीं शताब्दी तक इन राज्यों में से कुछ का पतन हो गया और इन क्षेत्रों में नवीन राज्यों की स्थापना हुई। सातवीं शताब्दी के चालुक्य वंश से संबंध रखने वाले एक वंश ने राष्ट्रकूटों के राज्य पर अधिकार कर लिया। इतिहासकारों ने इस वंश को उत्तर-चालुक्य वंश कहा है। बाद में यादव वंश के शासकों ने उत्तर-चालुक्य वंश के शासकों को पराजित करके अपना राज्य स्थापित कर लिया और देवगिरि (महाराष्ट्र में आधुनिक दौलताबाद) से शासन किया। वारंगल (आधुनिक आंध्र प्रदेश) में काकतेय वंश का शासन आरंभ हुआ और आधुनिक मैसूर के निकट होयसल वंश ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। चोल शासकों को अपनी शक्ति की रक्षा के लिए इन सभी राज्यों से युद्ध करने पड़े। चोल शासक तेरहवीं शताब्दी तक अपनी महत्ता को दक्षिण भारत में स्थापित किए रहे।

चोल शासक

साम्राज्य की स्थापना करने वाले आरंभिक चोल शासकों में विजयालय (846-871) था, जिसने तंजौर को जीता। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण परांतक प्रथम
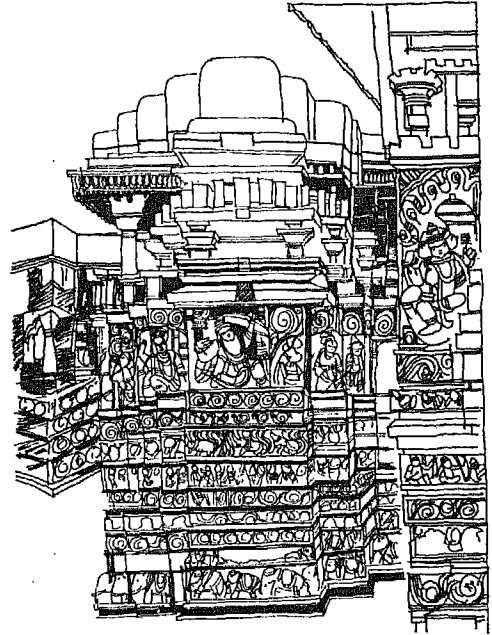
होयसल मंदिर की बाहरी दीवार

(907-955) था जिसने पांड्य राज्य को जीता और 'मदुरइकोण्डा' की उपाधि ग्रहण की जिसका अर्थ होता है 'मदुरइ का विजेता'। परंतु परांतक को भी राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने पराजित कर दिया। परांतक ने यह अनुभव कर लिया कि वह तब तक युद्ध में सफल नहीं हो सकता जब तक वह अपने राज्य को शक्तिशाली नहीं बना लेता। वह यह भी जानता था कि

उसका राज्य तभी शक्तिशाली होगा जब उसकी प्रजा को पर्याप्त भोजन मिलेगा, उसके जीवन की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण होंगी और उस पर अच्छा शासन होगा। इसलिए उसने अपने राज्य में कृषि को प्रोत्साहन दिया। कृषि कार्य अधिक सरल नहीं था, क्योंकि राज्य की कुछ भूमि चट्टानी थी और उस पर फसलें नहीं उगाई जा सकती थीं। इसके अतिरिक्त खेतों की सिंचाई की भी समस्या थी। नदी के पास के खेतों में तो सिंचाई के लिए नदी के जल का प्रयोग किया जा सकता था पर अन्य क्षेत्रों में केवल वर्षा के जल पर ही निर्भर रहना पड़ता था। इसलिए बड़े-बड़े तालाब खोदे गए जिनमें वर्षा के जल को एकत्र किया जा सकता था। तालाबों के जल को खेतों तक पहुँचाने के लिए सिंचाई की नहरों का निर्माण किया गया।

चोल वंश के राजाओं में सबसे उल्लेखनीय राजराज प्रथम और उसका पुत्र राजेन्द्र हैं। राजराज प्रथम (985-1016) एक कुशल सेना संचालक था और उसने अनेक दिशाओं में आक्रमण किए। उसने पांड्य और चेर वंश के राज्यों पर और मैसूर के कुछ भागों पर भी आक्रमण किए। उसने उत्तर की ओर आधुनिक आंध्र प्रदेश के वंगी क्षेत्र पर आक्रमण किया। चोल राज्य की सैनिक शक्ति को दूसरे राज्यों से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ही उसने ये युद्ध लड़े। राजराज समुद्र पर अधिकार रखने के महत्त्व को भी समझता था। वह समझता था कि यदि वह दक्षिण भारत के समुद्र तट को भी अपने अधिकार में रखेगा तो चोल राज्य और अधिक शक्तिशाली हो जाएगा। अतः वह एक सामुद्रिक विजय के लिए निकला और उसने लंका और मालदीप नामक द्वीपों पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के अन्य कारण भी थे। केरल, लंका और मालदीप के व्यापारी समुद्र तटीय व्यापार से प्राप्त धन से बड़े धनवान बन गए थे। भारत से पश्चिम एशिया को वस्त्र, मसाले और बहुमूल्य रत्न आदि अनेक वस्तुएँ भेजी जाती थीं। अरब व्यापारी इन वस्तुओं का व्यापार करने पश्चिम एशिया से भारत आते थे। उनमें से अनेक भारत के पश्चिमी समुद्र तट के नगरों में बस गए थे। वहाँ वे स्थानीय स्त्रियों से विवाह करके शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और अपने व्यापार में लगे रहते थे। चूंकि वे भारतवासियों से मिलजुल कर रहते थे और अपने व्यापार से भारत में धन लाते थे इसलिए उनका सम्मान किया जाता था
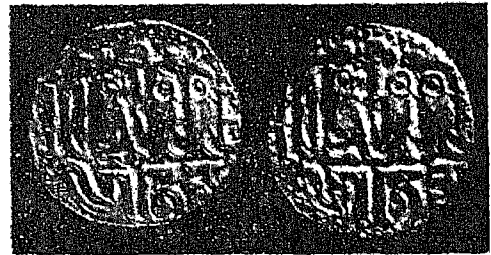
राजेन्द्र चोल का सिक्का

और उनके साथ अच्छा व्यवहार होता था। चेर राज्य, मालदीप द्वीप समूह और लंका इस व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। इस प्रकार इन क्षेत्रों की विजय से पश्चिमी व्यापार से प्राप्त होने वाला धन चोल साम्राज्य में आने लगा। यद्यपि राजराज ने इन क्षेत्रों पर आक्रमण करके उनको अपने अधिकार में कर लिया पर बहुत अधिक समय तक वह उनको अपने नियंत्रण में नहीं रख सका।

राजराज का पुत्र राजेन्द्र उससे भी अधिक महत्त्वाकांक्षी था। उसने सन् 1044 ई० तक दीर्घकालीन शासन किया। उसने अपने पिता की विजय-नीति को जारी रखा और दक्षिण प्रायद्वीप में अनेक युद्ध लड़े। उसके इन युद्धों में से दो युद्ध बड़े ही साहसिक और वीरतापूर्ण थे। एक तो वह जिसमें उसकी सेनाएँ पूर्वी भारत के समुद्र तट से होकर उड़ीसा को पार करती हुई गंगा नदी तक पहुँच गईं। दक्षिण लौटने से पूर्व उन्होंने बंगाल में शासन करने वाले पाल वंश के राजा को आतंकित किया। राजेन्द्र का उत्तर भारत का यह युद्ध-अभियान सात सौ वर्ष पूर्व किए गए समुद्रगुप्त के दक्षिण भारत के युद्ध-अभियान के समान ही था।

राजेन्द्र का दूसरा साहसपूर्ण युद्ध दक्षिण-पूर्व एशिया में हुआ था जिसमें उसने सामुद्रिक अभियान किया था। अनेक शताब्दियों से भारत के व्यापारी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न भागों से व्यापार करते आ रहे थे। यह व्यापार दक्षिण चीन तक फैल गया था। भारत की वस्तुएँ जहाजों से दक्षिण चीन भेजी जाती थीं और वे जहाज केवल चीन से ही नहीं, दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों से भी सामग्री लाते थे। भारतीय जहाजों को मोलक्का की जल-संधि (जलडमरूमध्य) से होकर गुजरना पड़ता था। उस समय इस पर श्रीविजय का अधिकार था। इस राज्य के अंतर्गत मलाया प्रायद्वीप और सुमात्रा का द्वीप भी था। श्रीविजय के व्यापारियों ने स्वाभाविक रूप में यह अनुभव किया कि यदि वे इस व्यापार पर अधिकार कर लें तो इसका लाभ उनको प्राप्त होने लगे। इसलिए वे भारतीय जहाजों के मार्ग में कठिनाइयाँ उत्पन्न करने लगे। भारतीय व्यापारियों ने राजेन्द्र चोल से अपनी सुरक्षा की प्रार्थना की और उसने एक विशाल जल-सेना भेज दी। श्रीविजय की पराजय हुई और उसने भारतीय जहाजों को उस जल मार्ग से सुरक्षा के साथ यात्रा करने की आज्ञा दे दी। राजेन्द्र इन व्यापारियों की सहायता करने के लिए इसलिए तैयार हो गया कि उनमें से अधिकतम चोल राज्य के निवासी थे और वे व्यापार में जो लाभ प्राप्त करते थे उससे चोल राज्य की आय में वृद्धि होती थी।

राजेन्द्र प्रथम के उत्तराधिकारियों ने अपनी शक्ति, समय और धन का बहुत बड़ा भाग प्रायद्वीप के अन्य राज्यों के साथ युद्ध करने में व्यय कर दिया। इनमें से कुछ युद्धों में उन्हें सफलता भी नहीं मिली। धीरे-धीरे चोल राज्य शक्तिहीन हो गया और अन्य राज्य अधिक शक्तिशाली बन गए। तेरहवीं शताब्दी के अंत तक चोल राज्य का अंत हो गया।

चोल शासन-प्रणाली

राज्य में राजा सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति होता था। फिर भी यह आशा की जाती थी कि वह अपनी मंत्रि-परिषद् या अपने पुरोहित की सलाह से शासन कार्य का संचालन करेगा। शासन के विभिन्न विभागों के विशेष अधिकारी होते थे। राज्य का प्रांतों में विभाजन किया गया था जिसको मंडलम कहते थे। प्रत्येक मंडलम को कई वलनाडुओं में बाँट दिया गया था। प्रत्येक वलनाडु में निश्चित संख्या में गाँव होते थे। आरंभ में चोल राज्य की राजधानी तंजौर थी पर बाद में आधुनिक मद्रास के निकट कांचीपुरम को राजधानी बनाया गया। कुछ समय तक तंजौर के निकट बने नए नगर गंगई-कोण्ड चोलपुरम को राजधानी बनाया गया था। इस नगर के नाम का अर्थ है ''गंगा पर विजय पाने वालों का नगर''।

बहुत-से गाँवों में शासन का संचालन राजकीय कर्मचारियों के द्वारा न किया जाकर स्वयं ग्रामवासियों के द्वारा किया जाता था। इन गाँव वालों की एक ग्राम परिषद् होती थी जिसको 'उर' या सभा कहते थे। गाँवों के मंदिरों की दीवालों पर लंबे अभिलेख (शिला-लेख) मिलते हैं जिनमें विस्तार के साथ वर्णन किया गया है कि उर अथवा सभा किस प्रकार आयोजित की जाती थी। जिनके पास भूमि थी अथवा गाँव के जो लोग ऊँची जाति के होते थे वे सभा के लिए लाटरी द्वारा चुन लिए जाते थे। इन सभाओं में गाँव के जीवन और वहाँ के कार्यों के संबंध में विचार किया जाता था। यह लोकप्रिय शक्ति का स्रोत था क्योंकि गाँव के लोग संगठित हो जाते थे। गाँव की संपन्नता का उत्तरदायित्व गाँव में रहने वाले लोगों पर भी आता था। यह सभा कभी-कभी कई छोटी समितियों में विभाजित कर दी जाती थी और प्रत्येक समिति गाँव के शासन के एक-एक अंग की देखरेख करती थी। उदाहरण के लिए एक गाँव की सभा में एक तालाब-समिति थी जिसका काम इस बात की देखभाल करना था कि गाँव के तालाब में पानी रहता है या नहीं और उस पानी का ठीक वितरण ग्राम-वासियों के लिए होता है या नहीं।

चोल राज्य की आय दो साधनों से प्राप्त होती थी—भूमि और भूमि की उपज पर लगाए गए कर से तथा व्यापार कर से। इस लगान का एक भाग राजा के लिए रख दिया जाता था और शेष भाग सार्वजनिक निर्माण कार्यों, जैसे सड़क और तालाब बनाने, राज कर्मचारियों को वेतन देने, स्थल सेना और जल सेना का व्यय वहन करने अथवा मंदिर-निर्माण में खर्च किया जाता था। भूमि कर प्रायः ग्राम परिषद् से एकत्र किया जाता था। भूमि के मालिक अधिकारियों को कर देते थे। व्यापार कर व्यापारियों से, जो प्रायः नगरों में रहते थे, वसूल किया जाता था।

समाज

राजा, राजदरबार और दरबारियों के अतिरिक्त दो अन्य श्रेणी के लोग थे जिनका समाज में अत्यधिक सम्मान किया जाता

था। ये ब्राह्मण और व्यापारी थे। ब्राह्मणों का इसलिए आदर किया जाता था कि वे धार्मिक कृत्यों को करते थे और विद्वान थे। वास्तव में जो ब्राह्मण बहुत बड़े विद्वान होते थे उनको राजा से भूमि और ग्राम उपहार के रूप में मिलते थे। यह ब्रह्मदेय उपहार कहलाते थे। इसलिए कुछ ब्राह्मण बड़े धनवान हो गए। उनकी संतान इस भूमि और इन गाँवों को उत्तराधिकार में प्राप्त करती थी और बड़े आराम का जीवन व्यतीत करती थी। कुछ ब्राह्मण तो इतने धनी हो गए कि वे अपना धन व्यापार में भी लगाने लगे।

चोल राज्य में व्यापारी बड़े संपन्न हो गए थे। उनका चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया और पश्चिम एशिया के साथ व्यापार होता था। इसके अतिरिक्त उनका विशाल भारत के अनेक प्रांतों से भी व्यापार होता था तथा उत्तरी-दक्षिणी राज्यों के बीच वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। कुछ व्यापारी मिलकर एक व्यापार-मंडल बना लेते थे जिसको मणिग्रामम् कहा जाता था। व्यापार-मंडल प्रायः एक ही व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का संगठन होता है। ऐसी परिस्थिति में सभी व्यापारियों का धन मिलकर एक प्रकार का बैंक बन जाता था। हर व्यापारी अपने भाग का धन देता था। यह प्रणाली बड़ी उपयोगी थी क्योंकि मंडल के रूप में उनके पास अधिक धन हो जाता था और वह अकेले व्यापारी क्षेत्र से अधिक विस्तृत क्षेत्र में व्यापार कर सकते थे। हर एक व्यापार-मंडल के पास सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए अपना एक काफिला होता था। उनमें से कुछ के पास सशस्त्र सैनिक भी होते थे जो डाकुओं के आक्रमण से काफिलों की रक्षा करने के लिए उनके साथ यात्रा करते थे।

नगरों में नगर के व्यापार-मंडल वहीं की बनी हुई वस्तुओं को एकत्र करके बेचते थे। व्यापार-मंडल इन नगर-मंडलों से वस्तुओं को खरीदते थे और उन स्थानों को भेजते थे जहाँ उनकी माँग अधिक होती थी। वस्तुएँ कभी तो अन्य वस्तुओं के बदले में दे दी जाती थीं और कभी नकद बेची जाती थीं। व्यापारियों की संपन्नता का अर्थ था नगर की संपन्नता। राजा भी चाहता था कि व्यापार-मंडल वैभव-संपन्न बने क्योंकि यदि वे धनवान हुए और राज्य को उन्होंने अधिक कर प्रदान किया तो राजकोष में अधिक धन एकत्र होगा। यह जान कर आश्चर्य होना चाहिए कि सन् 1077 ई० में 72 व्यापारियों का एक राजदूत-मंडल यह देखने के लिए चीन भेजा गया कि उस देश के साथ व्यापार बढ़ाने की और कौन-सी संभावनाएँ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति धनी और वैभव-संपन्न नहीं था। नगरों के मजदूर और गाँवों के किसान प्रायः बहुत गरीब होते थे। उनको कठोर परिश्रम करना पड़ता था जिससे राजा और कुछ अन्य व्यक्ति विलासिता का जीवन व्यतीत कर सकें। शूद्रों को प्रायः बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती थी। कुछ शूद्रों को तो मंदिर में जाने तक की मनाही थी।

मंदिर

मंदिरों के निर्माण और उनकी सुरक्षा के लिए राजा और धनी व्यक्ति उदारता से धन और भूमि का दान करते थे। प्रत्येक गाँव और नगर में एक मंदिर बनाया जाता था किन्तु कुछ बड़े-बड़े नगरों और धार्मिक स्थानों के मंदिर अन्य स्थानों के मंदिरों से बड़े होते थे। चोल राजाओं के बनवाए हुए राजमंदिर बहुत वैभवशाली तथा भव्य थे, जैसे तंजौर का बृहदेश्वर मंदिर।
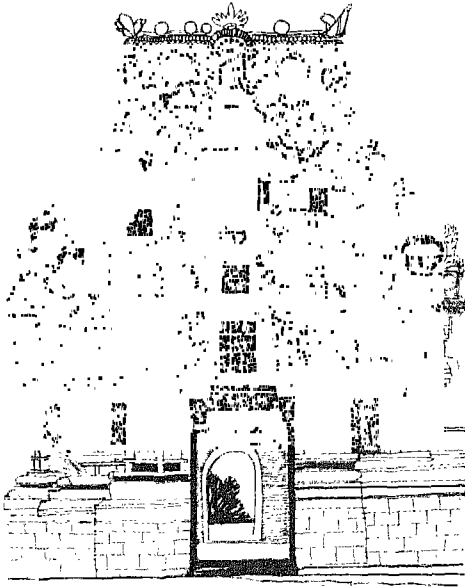
एक मंदिर का गोपुरम

पल्लव काल में मंदिर चट्टानों को काटकर बनाए गए थे। ये मंदिर बड़ी-बड़ी चट्टानों एवं पहाड़ियों को काटकर बनाए जाते थे। मद्रास के निकट महाबलीपुरम में इस प्रकार के मंदिर सबसे अधिक सुंदर हैं। धीरे-धीरे कलाकारों ने पहाड़ी चट्टानों को काटने की बजाय बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़ों को काटकर मंदिर बनाने शुरु किए। काँचीपुरम नगर में इस प्रकार के अनेक प्राचीन मंदिर हैं। प्रारंभ के इन मंदिरों में एक तो देवता की मूर्ति का कमरा होता था और एक प्रवेश करने का हाल या बरामदा होता था। ज्यों-ज्यों धार्मिक कर्मकांड बढ़ने लगे और मंदिरों में अधिक पूजा-पाठ और उत्सव होने लगे, त्यों-त्यों मंदिर के प्रांगण में अधिक कमरों और हालों का बनाना आवश्यक हो गया। बाद में इस प्रांगण के चारों ओर चारदीवारी भी बनाई जाने लगी। मंदिर का प्रवेश द्वारा गोपुरम कहलाता था। इस प्रांगण में बहुत-से छोटे-छोटे मंदिर भी बनाए जाते थे जिनमें दूसरे देवता अथवा महात्माओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थीं और प्रायः इनकी भी पूजा की जाती थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय मंदिर के ऊपर एक ऊँचा शिखर बनाया जाने लगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जो मंदिर देखना चाहता था जान लेता था कि मंदिर का केन्द्रीय गर्भ गृह कहाँ पर अवस्थित है।

गर्भ गृह में देवी या देवता की मूर्ति
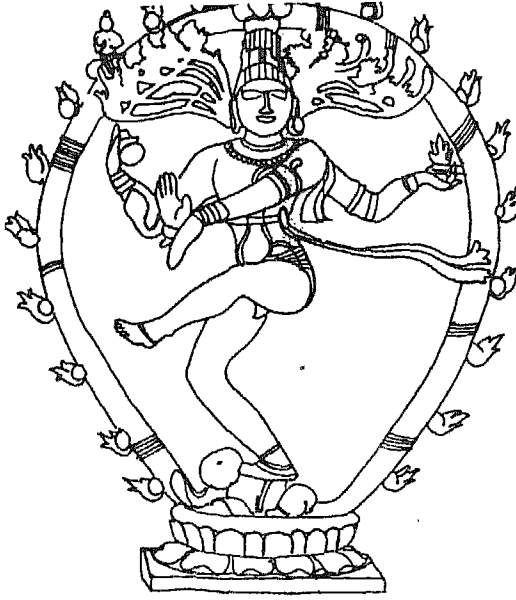
नटराज

स्थापित की जाती थी। ये मूर्तियाँ या तो पत्थर की बनी होती थीं या काँसे की। काँसे की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से सुंदर हैं और अपने सौंदर्य के लिए संसार भर में प्रसिद्ध हैं।

चोल राज्यों का मंदिर सामाजिक कार्यों का केन्द्र भी बन गया था। वह केवल पूजा करने का धार्मिक स्थान ही नहीं था बल्कि एक ऐसा स्थान था जहाँ लोग मिलते-जुलते थे। उत्सवों और धार्मिक त्योहारों पर आसपास के क्षेत्रों के लोगों के एकत्र होने का स्थान मंदिर ही था। धनवान लोग मंदिरों को धन और बहुमूल्य वस्तुओं की भेंट देते थे। इस धन का कुछ भाग मंदिर
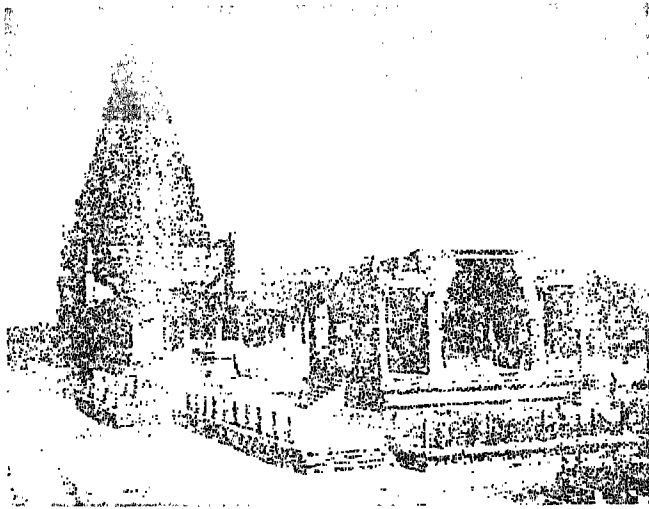
वृहद्देश्वर मंदिर

को सजाने में लगाया जाता था। दीवारों को मूर्तियों से सजाया जाता था। इन मूर्तियों के द्वारा देवता और मनुष्य दोनों के दृश्य चित्रित किए जाते थे। दीवारों पर बने हुए इन दृश्यों में राजदरबार, युद्ध, पूजा-उपासना तथा संगीत और नृत्य के दृश्य होते थे। देवताओं की पत्थर और काँसे की मूर्तियों को बड़ी भक्ति से बनाया जाता था। उत्सवों और त्योहारों के दिन उनको मूल्यवान रेशमी वस्त्रों और सोने के आभूषणों से सजाया जाता था और बड़े-बड़े लकड़ी के रथों में उनका जुलूस निकाला जाता था। मंदिर केवल एक सुंदर भवन ही नहीं होता था बल्कि मूल्यवान वस्तुओं का एक संग्रहालय भी था।

शिक्षा

जैसा कि हम देख चुके हैं मंदिर पूजा का स्थान तो था ही, साथ ही परस्पर एकत्र होने का स्थान भी था। मंदिर में ही गाँव सभाएँ अपनी बैठकें किया करती थीं। व्यापार पर होने वाले विचार-विमर्श को मंदिर की दीवारों पर अंकित कर दिया जाता था। मंदिर के पुजारी स्थानीय अध्यापक भी होते थे क्योंकि वहाँ कोई अच्छा विद्यालय नहीं होता था। मंदिर के प्रांगण में ही विद्यालय लगता था। विद्यार्थी प्राय: ब्राह्मण होते थे और वे दो भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करते थे जिनमें एक भाषा संस्कृत होती थी। अधिकतर धार्मिक शिक्षा संस्कृत भाषा के माध्यम से दी जाती थी क्योंकि वेद आदि धार्मिक ग्रंथों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। विद्यार्थी चोल राज्य के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली तमिल भाषा भी पढ़ते थे। संस्कृत भाषा का प्रयोग किए जाने के पहले भी भारत के इस भाग में तमिल भाषा बोली जाती थी। तमिल के ऊपर संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे उसमें कुछ संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया जाने लगा। कुंबन् की रामायण जैसे प्रसिद्ध ग्रंथ जब तमिल में लिखे गए तब संस्कृत के बहुत-से साहित्यिक और धार्मिक ग्रंथ लोकप्रिय हो गए। चोल राजाओं के अनेक शिला-लेख संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में लिखे हुए हैं। इस काल में प्रसिद्ध कवियों और नाटककारों के द्वारा तमिल भाषा में काव्य-ग्रंथों तथा नाटकों की भी रचना की गई।

तमिल यद्यपि दक्षिण भारत की सबसे प्राचीन भाषा है पर इस काल में दक्षिण भारत में केवल इसी एक भाषा का प्रयोग नहीं होता था। आंध्र प्रदेश में स्थानीय जनसमुदाय द्वारा तेलुगु भाषा का प्रयोग किया जाता था। तेलुगु भाषा में भी रामायण और महाभारत की कथाओं को लिखा गया। कुछ अन्य मौलिक साहित्य भी इस भाषा में लिखा गया जो बड़ा लोकप्रिय रहा। महाभारत की कुछ कथाओं को लेकर श्रेष्ठ रचना करने वाले नन्नय्या का आज भी स्मरण किया जाता है। आगे चलकर कवि तिक्कन्ना और यरन्ना ने उसकी रचना में अपनी रचनाओं को भी जोड़ दिया। आधुनिक मैसूर के चारों ओर के क्षेत्र में अधिक संख्या में लोग कन्नड़ भाषा

बोलते थे जैसे कि आज भी उस क्षेत्र में वही भाषा बोली जाती है। अपनी श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं के कारण कवि पंप, पौन्न और रन्न, कन्नड़ साहित्य के तीन रत्न कहे जाते हैं। धार्मिक उपदेशकों का एक दल जिसको लिंगायत कहते थे अपने धार्मिक उपदेश संस्कृत में न देकर कन्नड़ भाषा में देता था। इस कारण कन्नड़ भाषा लोकप्रिय हो गई। तुमको स्मरण होगा कि तमिल महात्मा अलवार और नयन्नार प्राचीन काल में संस्कृत के स्थान पर तमिल भाषा के प्रयोग को अधिक पसंद करते थे और उसी का उन्होंने प्रयोग भी किया। लिंगायत महात्माओं ने कन्नड़ का प्रयोग इसलिए किया कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह धनी हो या गरीब, उनकी भाषा को समझ सके और यह जान सके कि लिंगायत महात्मा किस प्रकार की शिक्षा देते थे। यदि उन्होंने संस्कृत में उपदेश दिए होते तो केवल कुछ सीमित वर्ग के शिक्षित व्यक्ति ही उनके उपदेशों को समझ सकते थे।

धर्म

इस काल में दक्षिण भारत में कुछ लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन भी आरंभ हुए। इनमें से कुछ तो अलवारों और नयन्नारों की दी हुई शिक्षाओं को लेकर चल रहे थे। अन्य ने नवीन विचारों का प्रचार आरंभ किया। इनमें से अनेक ने यह उपदेश दिया कि केवल मूर्तियों की पूजा तथा पुजारियों की गाई हुई प्रार्थनाओं को दुहराना ही धर्म नहीं है। उन्होंने कहा कि ईश्वर से प्रेम करना और मनुष्यों के प्रति अपने हृदय में दया की भावना जागृत करना धर्म है। वे यह नहीं चाहते थे कि समाज का वर्णों और जातियों में विभाजन किया जाए क्योंकि उनका विश्वास था कि सभी मनुष्य समान हैं। इन संप्रदायों में सबसे महत्त्वपूर्ण संप्रदाय था लिंगायत, जिसका संस्थापक वासव बारहवीं शताब्दी में हुआ।

इस काल में अनेक विद्वानों ने दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा दिखलाई। प्रसिद्ध दार्शनिकों ने दक्षिण भारत में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार किया पर उनके सिद्धान्तों का ज्ञान भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्धानों को हो गया। अनेक धार्मिक महात्मा दक्षिण भारत से उत्तर में आए यद्यपि बाद में उत्तर भारत में भी कुछ धार्मिक महात्मा उत्पन्न हुए और उन्होंने भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

इन महात्माओं में शंकर और रामानुज सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। शंकर जो आठवीं शताब्दी में हुए थे, केरल के रहने वाले थे। उनका दर्शन अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है जिसका अर्थ है विश्व में केवल एक सत्ता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। उन्होंने ज्ञान मार्ग का उपदेश दिया। उनका कहना था कि केवल ज्ञान प्राप्त करके ही ईश्वर की उपासना की जा सकती है। शंकर ने अपने दर्शन के जिज्ञासुओं को शिक्षा देते हुए संपूर्ण भारत की यात्रा की। उन्होंने अन्य विद्वानों, दार्शनिकों और उपदेशकों से शास्त्रार्थ किया। उन्होंने दर्शन शास्त्र के अनेक केन्द्र स्थापित किए।

रामानुज का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने उपदेश दिया कि व्यक्ति को भक्ति भाव से अपने को पूर्ण रूप से ईश्वर की शरण में छोड़ कर उसकी उपासना करनी चाहिए। अतः उनका मत शंकर के मत के अनुकूल नहीं था। उनका कहना था कि ईश्वर की उपासना ज्ञान की अपेक्षा प्रेम और भक्ति भाव से की जानी चाहिए। रामानुज को इसकी भी चिन्ता हुई कि कुछ लोगों को मंदिर में इस कारण प्रवेश नहीं करने दिया जाता कि वे नीच जाति के हैं। उनकी दृष्टि में ऊँच-नीच का कुछ अर्थ नहीं था। क्योंकि वे सभी मनुष्यों को समान समझते थे। दूसरे धार्मिक महात्मा मध्व थे जिनके बहुत-से अनुयायी थे। यह तेरहवीं शताब्दी के महात्मा थे। उनके विचार और उनकी शिक्षा बहुत कुछ रामानुज के विचारों और शिक्षाओं के समान थी।

इस प्रकार चोल शासन-काल का भारतीय संस्कृति को अच्छा योगदान रहा। चोल राजाओं की राजनीतिक शक्ति ने उनके राज्य को दक्षिण का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य बना दिया। कुछ समय तक उनका राज्य इस विशाल देश के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में रहा। इस काल के व्यापार से राज्य के व्यापारी धनवान हो गए और चोल राजकोष की भी वृद्धि हुई। तमिल, तेलुगु और कन्नड़ कवियों और लेखकों ने अपनी-अपनी भाषाओं में अनेक ग्रंथों की रचना की। भव्य मंदिरों का निर्माण किया गया। लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन ने भक्ति भावना का प्रचार किया और हिन्दू धर्म में नवीन विचारों का समावेश किया। इस काल के दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को अपने विचारों से अधिक पुष्ट किया। इन परिवर्तनों का प्रभाव केवल दक्षिण भारत के ही जीवन पर नहीं, संपूर्ण भारत के अनेक क्षेत्रों की जनता के जीवन पर भी पड़ा।

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **मंडलम्**—प्रांत।
2. **वलनाडु**—जिला।
3. **उर**—सभा या परिषद्।
4. **ब्रहमदेय**—ब्राहमणों को उपहार में दी गई बिना लगान की भूमि।
5. **मणिग्रामम्**—व्यापार-मंडल का नाम।
6. **गोपुरम्**—मंदिर का प्रवेश द्वार।
7. **शिखर**—मीनार के आकार की मंदिर के मध्य गर्भ के ऊपर की इमारत।
8. **अद्वैत**—शंकर के द्वारा प्रचारित भारतीय दर्शन का एक सिद्धांत।

II. **नीचे दिए गए कथनों में से कौन-सा कथन सही है? कथन के आगे "हाँ" अथवा "नहीं" में उत्तर दीजिए:**

1. शक्तिशाली प्रतिहार और पाल वंशों के साथ चोल शासक बार-बार युद्ध करते रहे।
2. चोल राजाओं ने आधुनिक तंजौर के आसपास के क्षेत्र तमिलनाद पर अधिकार करके अपना शासन आरंभ किया।
3. राष्ट्रकूट मैसूर के निकट द्वारसमुद्र पर शासन करते थे।
4. राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने परांतक को पराजित किया।
5. राजेन्द्र के उत्तराधिकारियों ने अपना बहुत-सा समय, धन और शक्ति दक्षिण प्रदेश के अन्य राजाओं से युद्ध करने में नष्ट कर दिया।

III. **निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों को उनके आगे कोष्ठों में दिए हुए शब्द या शब्दों से पूर्ण करो:**

1. ....दक्षिण प्रदेश का एक प्रसिद्ध राज्य था जिसने गंगा के मैदान के एक भाग को जीतने का प्रयत्न किया। (चोल, राष्ट्रकूट, चालुक्य)।
2. राष्ट्रकूटों को दक्षिण भारत के अत्यधिक शक्तिशाली...............वंश के राजाओं से अनेक युद्ध लड़ने पड़े। (काकतीय, होयसल, चोल)।
3. चोल वंश के आरंभिक राजाओं में जिन्होंने राज्य की स्थापना में सहायता दी........ ....था जिसने तंजौर को जीता। (राजेन्द्र,विजयालय, परांतक)।

IV. **नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:**

1. श्रीविजय और चोल राजाओं के बीच होने वाले संघर्ष के क्या कारण थे?
2. चोल शासकों की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?
3. "चोल शासकों का मंदिरों के निर्माण में उल्लेखनीय स्थान है।"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं? संक्षिप्त विवरण से अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
4. क्या यह कहना ठीक होगा कि इस युग में दक्षिणी भारत में अत्यधिक साहित्यिक कार्य हुए?

V. **करने के लिए रुचिकर कार्य:**

1. एशिया के नक्शे पर उन स्थानों को दिखाइए जहाँ चोल व्यापारी अपना व्यापार करते थे।
2. भारत के मंदिरों के चित्र एकत्र कीजिए और भवन-निर्माण की उत्तरी तथा दक्षिणी शैलियों के अंतर पर ध्यान दीजिए।

उत्तर भारत के राज्य

(800 ई० से 1200 ई० तक)

उत्तर भारत के इतिहास में गुप्त शासन-काल के पश्चात् छोटे-छोटे राज्यों का युग आया। समय-समय तर हर्ष जैसे शासकों ने अपना साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न किए किन्तु ये प्रयत्न कदाचित ही सफल हुए। फिर भी साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा समाप्त नहीं हुई। 750 ई० से 1000 ई० तक तीन बड़े राज्य उत्तर भारत पर अपना अधिकार स्थापित करने के प्रयत्न में परस्पर युद्ध करते रहे लेकिन किसी भी राज्य को अधिक काल के लिए सफलता नहीं मिली।

कन्नौज के लिए संघर्ष

उत्तर भारत में कन्नौज नगर पर अधिकार करने के लिए कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं। यह नगर हर्ष की राजधानी और उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। उत्तर भारत में इस नगर की बड़ी अच्छी स्थिति थी क्योंकि जो इस नगर पर अधिकार कर लेता वह गंगा के मैदान पर अधिकार कर सकता था। तीन प्रमुख राज्य इस संघर्ष में लगे हुए थे और बारी-बारी से उन्होंने कन्नौज पर अधिकार किया। आधुनिक इतिहासकारों ने इसको कन्नौज के लिए त्रिदलीय (तीन दलों का) संघर्ष कहा है। ये तीन राज्य राष्ट्रकूट, प्रतिहार और पाल थे।

दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में नासिक के आसपास के क्षेत्र पर राष्ट्रकूटों का शासन था। मालखेद उनकी राजधानी थी। यह एक सुंदर और वैभवशाली नगर था। जैसा कि हम देख चुके हैं, राष्ट्रकूट राजा पल्लवों और चालुक्यों से दक्षिण के प्रायद्वीप में युद्ध करते रहे। पर अमोघवर्ष उनका एक महत्त्वाकांक्षी शासक था जो राष्ट्रकूटों को उत्तर भारत में भी उतना ही शक्तिशाली बना देना चाहता था जितने कि वे दक्षिणापथ में थे। इसलिए कन्नौज पर अधिकार करके उसने उत्तर भारत पर शासन करने का प्रयत्न किया।

प्रतिहार दक्षिण राजस्थान के कुछ भागों
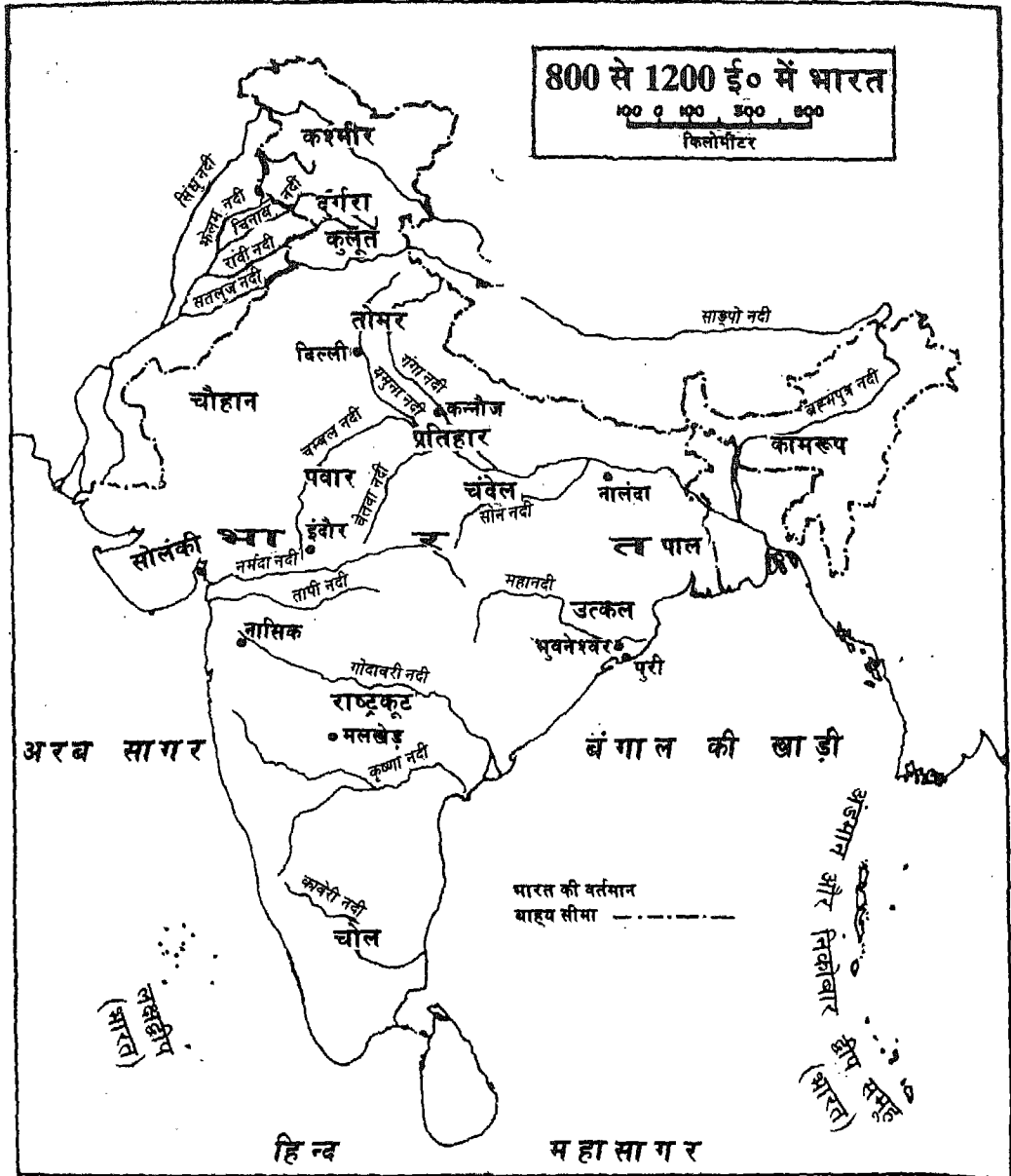
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

और अवंती पर शासन करते थे। वे पहले स्थानीय अधिकारियों के परिवार थे पर अब वे स्वतंत्र राजवंश बन गए थे। उस समय के इतिहास जानने के साधनों से एक म्लेच्छ वंश का पता चलता है। पहले प्रतिहार इन्ही म्लच्छों को पराजित करके शक्ति-शाली बन गए । म्लेच्छ शब्द का अर्थ है असभ्य जाति अथवा बहिष्कृत व्यक्ति। इस शब्द का प्रयोग विदेशियों के लिए किया जाता था। हम निश्चित रूप से नहीं जानते कि इस प्रसंग में म्लेच्छ किसको कहा गया। पर संभवत: इस शब्द का प्रयोग अरब-निवासियों के लिए किया गया है। इस समय तक अरब-निवासी सिन्ध प्रदेश को जीत कर उसमें बस गए थे। अरबों के साथ संघर्ष में सफलता प्राप्त करके प्रतिहार अपनी सेनाओं को पूर्व की ओर ले गए और उन्होंने आठवीं शताब्दी के अंत तक कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

किन्तु बंगाल पर शासन करने वाले पाल वंश के राजा भी कन्नौज पर अधिकार करना चाहते थे। पाल वंश के राजाओं ने लगभग चार सौ वर्ष राज किया। संपूर्ण बंगाल और बिहार के बहुत से भाग में उनका राज्य फैला हुआ था। गोपाल, पाल वंश का पहला राजा था। राजवंश का पहला राजा बिना किसी उत्तराधिकारी के मर गया था अत: वहाँ के सरदारों ने गोपाल को अपना शासक चुन लिया था। पाल वंश की स्थापना के लिए गोपाल का ही स्मरण किया जाता है।

गोपाल के पुत्र धर्मपाल ने अपने राजवंश को और अधिक शक्तिशाली बनाया। अपने शासन के आरंभिक काल में वह राष्ट्रकूट राजा से पराजित हुआ। फिर भी उसने अपनी सेना का संगठन किया और कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। इस बार उसको सफलता मिली और उसने अपने संरक्षित शासक को कन्नौज की गद्दी पर बैठाया। पाल शासकों ने कुछ तो शक्तिशाली सेना बनाकर अपनी शक्ति का संगठन किया पर साथ ही साथ उन्होंने पड़ोसी राज्यों से भी संधियाँ कीं। उदाहरण के लिए पाल वंश के राजा और तिब्बत के राजा के बीच एक मित्रता की संधि हुई थी। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के चोल शासकों की भाँति पाल राजाओं ने भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के व्यापार में अपनी रुचि दिखलाई। उन्होंने इस व्यापार में भाग लेने के लिए अपने व्यापारियों को प्रोत्साहित किया।

किन्तु पाल शासकों का कन्नौज पर बहुत अधिक समय तक अधिकार नहीं रहा। राजा भोज के शासन काल में प्रतिहारों ने अपनी खोई हुई शक्ति को फिर से प्राप्त कर लिया। उसने 836 ई० से 882 ई० तक राज किया। वह अपने समय का उत्तर भारत का सबसे अधिक प्रसिद्ध राजा था। वह एक शक्तिशाली योद्धा था और प्रतिहारों के लिए उसने कन्नौज पर फिर से अधिकार कर लिया। फिर भी जब भोज ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करना चाहा, तब प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने उसको पराजित कर दिया। 851 ई० के लगभग एक अरब सौदागर सुलेमान ने भारत का हाल लिखा

है। इस वर्णन में उसने जुज्र के राजा का उल्लेख किया है जो बड़ा शक्तिशाली था और एक वैभवशाली राज्य पर शासन करता था। इतिहासकारों का विश्वास है कि संभवतः जुज्र गुजरात का अरबी नाम था और जिस राजा का सुलेमान ने उल्लेख किया है वह राजा भोज ही था। भोज अपनी साहित्यिक रुचि और वैष्णव धर्म के संरक्षण के लिए भी याद किया जाता है। इसके कुछ सिक्कों में विष्णु के अवतार वाराह के चित्र मिलते हैं और उसने आदि वाराह की पदवी भी धारण की थी। कहा जाता है कि एक लंबे शासन के बाद उसने अपने राज्य का परित्याग कर दिया पर हो सकता है कि यह सही न हो।

सन् 916 ई० में राष्ट्रकूटों ने अपनी शक्ति का फिर से संगठन किया और उन्होंने फिर से कन्नौज पर आक्रमण किया। इस समय तक कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित करने की इच्छा रखने वाले तीनों राज्य राष्ट्रकूट, पाल और प्रतिहार लगातार परस्पर युद्ध करते-करते थक गए थे। वे आपस के युद्धों में इतने व्यस्त हो गए कि उनको यह भी पता न चला कि वे कितने अधिक कमज़ोर हो गए हैं। सौ वर्षों के अंदर इन तीनों राज्यों का पतन हो गया। जिस क्षेत्र पर राष्ट्रकूटों का राज्य था उस पर उत्तरकालीन चालुक्य शासन कर रहे थे। पाल राज्य पर चोल सेनाओं ने आक्रमण किया और बाद में उस राज्य पर सेन वंश का शासन स्थापित हुआ। प्रतिहार राज्य बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया जिनमें से कुछ का संबंध राजपूतों के उत्थान से था।

राजपूत

राजपूतों का एक लंबा और मनोरंजक इतिहास है। वह कौन थे और कहाँ से आए यह आज भी रहस्य है। इतिहासकारों का विचार है कि उनमें से कुछ मध्य एशिया की उन जातियों से संबंधित हैं जो हूणों के उत्तर भारत के आक्रमण के बाद भारत में बस गईं। वे कुलों में विभाजित थीं। राजपूत हमेशा जोर देकर कहते थे कि वे क्षत्रिय जाति के हैं। राजपूत राजाओं ने अपने वंशों के इतिहास लिखवाए जिनमें उनका संबंध प्राचीन सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी राजाओं से जोड़ा गया। किन्तु चार ऐसे राजपूत वंश भी थे जो अपने को इन दो प्राचीन वंशों का उत्तराधिकारी नहीं कहते थे। वे अपने को अग्निकुल का बतलाते थे। ये चारों वंश इस काल के इतिहास में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वे प्रतिहार (या परिहार), चौहान (या चहमान), सोलंकी (या चालुक्य) और पँवार (या परमार) थे।

अग्निकुल के इन चार राजपूत राज्यों ने पश्चिमी भारत, राजपूताना और मध्य भारत के कुछ भागों में अपने राज्य स्थापित किए। परिहार कन्नौज क्षेत्र पर शासन करते थे। राजपूतों के मध्य भाग में चौहानों का शक्तिशाली राज्य था। काठियावाड़ और उसके आसपास के क्षेत्र में सोलंकियों की शक्ति का उदय हुआ। पँवारों ने इंदौर

के निकट धार को अपनी राजधानी बनाकर मालवा प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। इनमें से बहुत से वंशों ने प्रतिहार और राष्ट्रकूट राजाओं के संरक्षण में अपना शासन प्रारम्भ किया और बाद में अपने संरक्षकों के विरुद्व विद्रोह किया और अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया।

दूसरे छोटे शासक भी शक्तिशाली बन गए और धीरे-धीरे उन्होंने उत्तर भारत के विभिन्न भागों में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए। नेपाल, आसाम में कामरूप, कश्मीर और उड़ीसा में उत्कल इसी प्रकार के राज्य थे। इसी समय पंजाब के पर्वतीय राज्यों चंबक (चंबा), दुर्गरा (जम्मू) और कुलूत (कुलू) आदि की स्थापना हुई। ये राज्य या तो पहाड़ियों पर थे या राजपूत राज्यों से बहुत दूर थे और राजपूतों के इतिहास से कोई संबंध नहीं रखते थे। जो राज्य राजपूतों के इतिहास से संबंध रखते थे वे मध्य भारत और राजस्थान के राजा थे जैसे बुंदेलखंड के चंदेले या चौहानों के दक्षिण में राज्य करने वाले मेवाड़ के गुहिल। चौहान राज्य के उत्तर-पूर्व में तोमर वंश का राज्य था और वे हरियाणा और दिल्ली के चारों ओर के क्षेत्र पर शासन करते थे। उन्होंने भी प्रतिहारों के संरक्षण में छोटे शासक के रूप में राज करना आरंभ किया किन्तु जब प्रतिहार कमजोर हो गए तो वे स्वतंत्र हो गये। तोमरों ने सन 736 ई० में ढिल्लिका (दिल्ली) नगर का निर्माण कराया। बाद में चौहानों ने तोमरों को पराजित करके उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। हिन्दी के कवि चंदबरदायी के लिखे 'पृथ्वीराज रासो' नामक प्रसिद्ध गाथा काव्य का नायक पृथ्वीराज तृतीय चौहान वंश का ही था।

ये राज्य अधिकतर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए परस्पर युद्व करते रहते थे। इन युद्धों ने उनको कमजोर कर डाला। जब उन पर उत्तर-पश्चिम से आक्रमण हुए तब वे उचित ढंग से अपनी रक्षा न कर सके। इन आक्रमण करने वालों में सबसे पहला महमूद गजनवी था।

महमूद गजनवी

गजनवी अफगानिस्तान का एक छोटा-सा राज्य था। एक तुर्क सरदार ने दसवीं शताब्दी में इस राज्य की स्थापना की थी। उसके उत्तराधिकारियों में एक महमूद था। वह गजनी को एक बड़ा शक्तिशाली
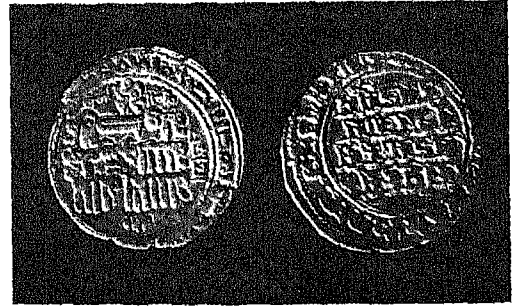
महमूद गजनवी का सिक्का

साम्राज्य बनाना चाहता था अतः उसने मध्य एशिया के कुछ भागों को जीत लेना चाहा। पर इस कार्य के लिए उसको एक

विशाल सुसज्जित सेना की आवश्यकता थी। इसका अर्थ था कि पहले वह सैनिकों को वेतन देने के लिए और हथियार खरीदने के लिए धन एकत्र करे। उसने सुना था कि अफगानिस्तान के पड़ोस में भारत एक बहुत धनी देश है। अतःधन प्राप्त करके अपनी विशाल सेना को सुसज्जित करने के लिए उसने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई।

पहला आक्रमण 1000 ई० में आरंभ हुआ। पच्चीस वर्षों के थोड़े-से समय में महमूद नें भारत पर सत्रह आक्रमण किए। इस बीच उसने मध्य एशिया और अफगानिस्तान में भी लड़ाइयाँ लड़ीं। उसके इन आक्रमणों से उत्तर भारत के निवासी बड़े भयभीत हो गए क्योंकि लूटमार करके वह धन और सोना एकत्र करना चाहता था। इस काम में जो भी उसका विरोध करके रोकना चाहता था उसी को वह अपने रास्ते से साफ कर देता था। बाद में उसने पंजाब को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

सन् 1010 और 1025 ई० के बीच महमूद ने उत्तर भारत के केवल उन नगरों पर आक्रमण किया जिनमें बहुत से मंदिर थे। उसने सुना था कि भारत के मंदिरों में धन और सोना बहुत है। इसी कारण उसने मंदिरों को नष्ट किया और उनका सोना तथा बहुमूल्य रत्न लूटकर ले गया। उसके आक्रमणों में से पश्चिमी भारत के सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण और विनाश का सबसे अधिक उल्लेख किया जाता है। मंदिर नष्ट करने से उसको एक और लाभ हुआ। उसने मूर्तियों को तोड़ा और इससे वह धार्मिक नेता भी बन गया।

1030 ई० में महमूद की मृत्यु हो गई और इससे उत्तर भारत के निवासियों को बड़ी राहत मिली। यद्यपि भारत में महमूद ने विनाश करने का ही कार्य किया परंतु अपने देश में उसने एक बड़ी सुंदर मस्जिद और एक बड़ा पुस्तकालय बनवाया। शहनामा नामक महाकाव्य का लेखक फिर-दौसी उसी के संरक्षण में रहा। उसी ने मध्य एशिया के प्रसिद्ध विद्वान अलबेरुनी को भारत भेजा। अलबेरुनी भारत में कई वर्षों तक रहा और उसने भारत के संबंध में एक बड़ी सुंदर पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक में भारत का और यहाँ के निवासियों के सामाजिक जीवन का विस्तार से वर्णन किया गया है।

मुहम्मद गौरी

महमूद गजनवी के आक्रमणों का उद्देश्य केवल धन लूटना था। पर बारहवीं शताब्दी के अंत में मुहम्मद गौरी के आक्रमण हुए। वह भी अफगानिस्तान के एक छोटे-से राज्य का शासक था पर उसकी इच्छा केवल लूटमार करने की ही नहीं थी बल्कि वह उत्तर भारत को भी जीत कर अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। पंजाब पहले भी गजनी राज्य का भाग रहा। मुहम्मद गौरी को भारत विजय की योजना बनाने में इससे बड़ा उत्साह मिला।

मुहम्मद के अभियान बड़े व्यवस्थित

होते थे। जब वह देश जीत लेता था तो अपनी अनुपस्थिति में देश की शासन व्यवस्था को चलाने के लिए अपना एक जनरल (सेनापति) छोड़ जाता था। मुहम्मद को प्रायः अफगानिस्तान में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था इसलिए वह भारत से अफगानिस्तान और अफगानिस्तान से भारत आता-जाता रहता था। उसका भारत पर सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय पर हुआ। 1192 ई० में मुहम्मद ने उसको तराइन की दूसरी लड़ाई में पराजित किया। इससे दिल्ली का क्षेत्र मुहम्मद के अधिकार में आ गया और वह अपनी शक्ति को बढ़ाने लगा। किन्तु सन् 1206 ई० में मुहम्मद की हत्या कर दी गई। उत्तर भारत में उसका राज्य कुतबुद्दीन ऐबक के अधिकार में आ गया। कुतबुद्दीन ऐबक उसका जनरल था।

इस प्रकार दिल्ली पर तुर्कों का शासन आरंभ हुआ। प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि किस प्रकार 14 वर्ष के थोड़े से समय में तुर्क उत्तर भारत के प्रमुख नगरों और व्यापार के मार्गों के ऊपर विजय प्राप्त करने में सफल हुए। इसका उत्तर केवल उत्तर भारत के राज्यों की राजनैतिक परिस्थिति पर ही निर्भर नहीं है बल्कि उनकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर भी निर्भर है।

आर्थिक व्यवस्था

मध्यकाल में जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ वह यह कि मध्यकाल में भूमि के लगान को वसूल करने की वह प्रणाली नहीं रही जो प्राचीनकाल से चली आ रही थी। लगान के ऊपर अब राजा का सीधा अधिकार नहीं रहा। इस परिवर्तन का जीवन के अन्य पहलुओं पर भी प्रभाव पड़ा

हमने देखा था कि गुप्त काल में कुछ अधिकारियों को नकद वेतन नहीं दिया जाता था। उनको लगान वसूल करने का अधिकार मिल गया था। किसी गाँव या भूमि भाग के लगान को वसूल करने का अधिकार अधिकारी को दे दिया जाता था। यह लगान उस धन के बराबर था जो सामान्यतया उसको वेतन के रूप में मिलता। आरंभ में अधिकारी उस भूमि भाग पर अपना कोई स्वामित्व नहीं समझता था। वह केवल उस भूमि का लगान ही वसूल कर सकता था। पर मध्यकाल तक आते-आते ऐसे अनेक अधिकारी उस भूमि भाग पर अपना स्वामित्व भी समझने लगे। वेतन की बजाय भूमि के लगान वसूल करने का अधिकार देकर वेतन देने की प्रणाली मध्यकाल में बढ़ गई। इस प्रकार लगान वसूल करने का अधिकार पाने वाले राय या ठाकुर कहलाते थे। ये अनेक प्रकार के होते थे। इनमें से कुछ तो राजकीय अधिकारी थे और कुछ वे स्थानीय सरदार थे जिनको युद्ध में पराजित कर दिया गया था पर उनको अनुदान के रूप में भूमि पर अधिकार मिला हुआ था। अनुदानित व्यक्तियों का दूसरा बड़ा समुदाय ब्राह्मणों और विद्वानों का था जिनको वास्तव में भूमि तो मिली ही हुई थी

साथ ही उस भूमि के लगान को वसूल करने का अधिकार भी मिला हुआ था। इस प्रकार के अनुदान अग्रहार या ब्रह्मदेय अनुदान कहलाते थे। जिन ब्राह्मणों को ये अनुदान प्राप्त थे उन पर राजा का अन्य किसी प्रकार का बंधन नहीं था। वे और उनके परिवार भूमि के लगान पर अपना सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। वह परिस्थिति बहुत कुछ उसी प्रकार की थी जैसी दक्षिण भारत के ब्रह्मदेय अनुदान की थी। परंतु दूसरे अनुदानित व्यक्तियों पर राजा के बंधन भी थे। अनुदानित किसानों से लगान वसूल करता था और उसका बड़ा भाग अपने उपयोग के लिए ले लेता था किन्तु उसका थोड़ा भाग उसको राजा को भी देना पड़ता था। उसको राजा की सेवा के लिए कुछ सैनिक भी रखने पड़ते थे जिनको आवश्यकता पड़ने पर राजा माँग भी सकता था।

जैसे-जैसे अनुदानित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई वैसे-वैसे और भी अधिक भूमि उनके अधिकार में चली गई। अतः राजा को प्राप्त होने वाली लगान की धन राशि कम हो गई। कभी-कभी राज्य के किसी बड़े अधिकारी जैसे मंत्री को एक पूरा जिला जिसमें बहुत-से गाँव होते थे अनुदान में दे दिया जाता था। चूँकि उसके लिए सभी गाँव से लगान वसूल कर लेना संभव नहीं था अतः वह अपने अधीन कर्मचारियों को अपने गाँवों को अनुदान में दे देता था। ये अधीन कर्मचारी गाँव के किसानों से लगान वसूल करते थे। इस प्रकार राजा और किसानों के बीच में बहुत से मध्यवर्ती लोग आ गए।

लगान वसूल करने की प्रणाली में परिवर्तन के परिणामस्वरूप अनेक अन्य परिवर्तन हुए। अब अधिकारी राजा पर बहुत कम निर्भर रहते थे। जिन लोगों के पास बड़े-बड़े भूमि भागों के अनुदान थे वे प्रायः स्वतंत्र शासकों का सा व्यवहार करने लगे। भूमि पर खेती करने वाले किसान अब सामंतों को अधिक महत्त्व प्रदान करने लगे क्योंकि उन पर सामंतों का ही सीधा अधिकार होता था। आरंभिक युग में अधिकारी राजा के नाम पर लगान वसूल करते थे। अब लगान सामंतों और अधिकारियों के नाम पर वसूल किया जाता था। अतः अब राजा किसानों से दूर रहने लगा और उसका उनसे संबंध टूट गया। पहले सब लगान राजकोष में जाता था अतः यदि राजा को एक बड़ी शक्तिशाली सेना संगठित करनी होती तो वह लगान में से कुछ अतिरिक्त धन अपनी सेना पर व्यय कर सकता था। अब लगान राजा और सामंतों में बँट जाता था इसलिए राजा अपनी सेना पर अतिरिक्त धन नहीं व्यय कर सकता था। यह भी एक कारण था जिससे उत्तर भारत के राज्य तुर्कों के आक्रमणों से अपना समुचित बचाव न कर सके।

राजा और सामंतों को ठीक पारस्परिक संबंध कायम रखना भी कठिन हो गया। यह आशा की जाती थी कि राजा सामंतों पर नियंत्रण रखेगा पर सामंत जब चाहते

कठिनाइयाँ उत्पन्न करते रहते। कोई सामंत राजा के भाग का लगान समय पर न भेज कर या आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देने में धोखा देकर राजा की स्थिति को कमजोर कर सकता था। जितना अधिक राजा सामंत पर निर्भर करता था उतना ही अधिक वह क़मजोर हो जाता था। कभी-कभी राजा सामंत के अनुदान को छीन भी सकता था परंतु ऐसा बहुत कम होता क्योंकि सामंत प्रायः बड़े शक्तिशाली होते थे। इस प्रकार अपने सामंत से व्यवहार करने में राजा को बड़ा सतर्क रहना पड़ता था।

सामंतों में एक दूसरे के प्रति बड़ी ईर्ष्या होती थी। यद्यपि वे एक ही राजा के लिए कार्य करते थे पर वे एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी होते थे। इस प्रतिद्वंद्विता के कारण अनेक युद्ध होते थे। यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य किया जाता था या कोई बात कही जाती थी तो वे तुरंत अपमानित अनुभव करते थे। प्रत्येक झगड़े का निपटारा लड़ाई से होता था। एक सामंत दूसरे को चुनौती देता और परिणामस्वरूप युद्ध होता था। युद्ध ही अपनी शक्ति के प्रदर्शन का एकमात्र साधन था। इस प्रकार इस काल में लगान का अधिकतर भाग व्यर्थ ही युद्ध में व्यय होने लगा।

जब कोई सामंत यह अनुभव करता कि वह पर्याप्त मात्रा में शक्तिशाली बन गया है तो वह अपने को स्वतंत्र घोषित कर देता और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेता था। प्रायः राजा इतना कमजोर होता कि वह अपने सामंत को ऐसा करने से रोक नहीं सकता था। इस प्रकार राष्ट्रकूट जो आरंभ में चालुक्यों के सामंत थे स्वतंत्र हो गए और अंत में उन्होने चालुक्यों के राज्य पर कब्जा कर लिया। आगे चलकर इनके सामंत उत्तर चालुक्य बने और उन्होंने भी इसी रीति से राष्ट्रकूटों के हाथ से राज्य छीन लिया। इसी प्रकार प्रतिहार राजाओं के संरक्षण में शासन करने वाले चंदेले भी स्वतंत्र हो गए। दक्षिण के चोल वंश के शासक भी आरंभ में सामंत ही थे। जब कभी किसी सामंत को स्वतंत्र होना होता था तब वह पहले महाराजाधिराज जैसी बड़ी-बड़ी पदवियाँ धारण करता था। वास्तव में ये पदवियाँ सही नहीं होती थीं पर सुनने में बड़ी प्रभावशाली प्रतीत होती थीं।

इस परिस्थिति में सबसे अधिक कष्ट किसानों को होता था। उनको अपने सामंत को केवल लगान ही नहीं देना पड़ता था बल्कि उसके लिए बेगार भी करनी पड़ती थी। प्रायः सामंत किसानों से अतिरिक्त कर भी वसूल करते थे जैसे किसानों को सड़कों, कारखानों और सिंचाई के पानी के प्रयोग के लिए भी कर देना पड़ता था। किसान इसकी शिकायत राजा से नहीं कर सकते थे क्योंकि राजा का सामंतों के ऊपर अधिक अंकुश नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में किसान के लिए कोई अंतर नहीं था चाहे उसका राजा राजपूत हो या तुर्क। किसान अधिक से अधिक परिश्रम करता था किन्तु वह गरीब ही बना रहा।

समाज

यद्यपि राजा की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति प्राचीनकाल के मुकाबले में बहुत कम हो गई फिर भी वह बड़ी शान-शौकत से रहता था। उसकी आमदनी का बहुत-सा धन राजमहलों और मंदिरों के निर्माण में व्यय होता था। वह बहुमूल्य वस्त्रों, अलंकारों और रत्नों को धारण करने में तथा अपने दरबार की शान-शौकत में अपना अधिकतर धन व्यय करता था। राजा के द्वारा अपनाए गए फैशन को सामंत भी अपनाते थे।

राजा के दरबार में केवल सामंत ही नहीं, धनवान ब्राह्मण भी उपस्थित होते थे। ब्राह्मणों में से बहुत से धनवान और शक्तिशाली होते थे क्योंकि उनको भी अनुदान में भूमि प्राप्त थी। इस भूमि से उनको अधिक लगान मिलता था क्योंकि उस पर उनका पूरा अधिकार था और उनको राजा को कोई लगान नहीं देना पड़ता था। भूमि अधिकारी ब्राह्मणों को स्वयं खेती भी नहीं करनी पड़ती थी अतः वे बड़ा सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। उनकी जमीन पर किसान उनके लिए खेती करते थे। इस भूमि के बदले में कुछ ब्राह्मण राजा के लिए धार्मिक कर्मकांड और पूजापाठ करते थे और कुछ राजा का जीवन-चरित्र, उसके वंश का इतिहास और उसकी प्रशंसा में काव्य लिखते थे। बहुत से ब्राह्मण राज्य अधिकारी और राज्य कर्मचारी भी थे।

शहरों में रहने वाले लोग अब भी मुख्यतया उद्योग-धंधों और व्यापार में लगे हुए थे। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर अरब-व्यापारियों के निवास करने के कारण भूमध्य सागर के प्रदेशों तथा एशिया के देशों के साथ व्यापार की उन्नति हो रही थी। भारत की बनी हुई वस्तुएँ पूर्वी अफ्रीका के नगरों में भी बिक्री के लिए भेजी जाती थीं। केसर, रेशम, रूई, ऊनी वस्त्रों, बहुमूल्य रत्नों, सुगंधित लकड़ी (चंदन) और मसालों का निर्यात होता था। भारत में विदेशों से घोड़े मँगाए जाते थे। ये घोड़े मध्य एशिया व अरब से आते थे और भारत के व्यापारी अच्छे घोड़ों को बहुत अधिक मूल्य देकर खरीदते थे। पश्चिमी एशिया से खजूर और शराब का बहुत बड़ी मात्रा में आयात होता था।

समाज के सभी वर्गों में शूद्रों का जीवन सबसे अधिक कष्टपूर्ण था। उनमें से अधिकांश किसान थे। इस कारण वे सबसे अधिक गरीब थे। इस काल में संसार के सभी देशों में किसानों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता था। यूरोप और चीन के किसानों का जीवन भी बड़ा कष्टपूर्ण था। वे अन्न का उत्पादन करते थे और इस कारण सबको उन पर निर्भर रहना पड़ता था। फिर भी उनको समाज में कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। न तो वे किसी से कोई प्रार्थना कर सकते थे और न अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का विरोध ही कर सकते थे। भारत के किसान नीची जातियों के थे इसलिए उनको नीची निगाह से देखा जाता था। कभी-कभी जब उनके

साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जाता तो वे देश के दूसरे भागों में भागने का प्रयत्न करते थे। पर यह भी बहुत कम संभव हो पाता था। इन शूद्रों के अतिरिक्त अछूत वर्ग के लोग भी थे जो बहुत नीच कामों को करते रहते थे।

शिक्षा और ज्ञान

ब्राह्मणों पर धार्मिक कर्मकांडों के करने का ही नहीं, शिक्षा देने का भी उत्तरदायित्व था। मंदिरों में स्कूल लगते थे और वहाँ ऊँची जातियों के बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। उनमें से बहुत से संस्कृत और गणित का अध्ययन करते तथा धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। नालंदा (बिहार) में एक प्रसिद्ध बौद्ध मठ और विश्वविद्यालय था। गुप्तकाल में सभी विषयों पर विशेषकर विज्ञान के अध्ययन में विशेष रुचि दिखलाई गई थी। पर अब परिस्थिति बदल चुकी थी। विज्ञान के अध्ययन के प्रति रुचि कम हो गई थी। भारतीय विद्वान नई खोजें करने में कोई उत्साह नहीं दिखलाते थे। वे जो कुछ पहले से जानते थे उसी को दुहराने में संतुष्ट रहते थे। उनके पास जो ज्ञान था उसका भी वह दुरुपयोग करते थे। उदाहरण के लिए ज्योतिष शास्त्र के क्षेत्र में आर्य भट्ट द्वारा की गई खोजों का प्रयोग सूर्य, पृथ्वी और ब्रह्मांड के संबंध में नवीन खोजों के लिए नहीं बल्कि फलित-ज्योतिष के अज्ञान और अंधविश्वास से पूर्ण विचारों से जोड़ दिया गया था। भारत का आयुर्वेद का ज्ञान संपूर्ण विश्व में प्रसिद्ध था परंतु इस विषय के ज्ञान की वृद्धि भी रुक गई थी क्योंकि यह कहा जाने लगा कि जो कोई मृतक शरीर का स्पर्श करेगा वह जाति-च्युत हो जाएगा। यह भारत का दुर्भाग्य था क्योंकि इस काल में संसार के अन्य देशों में और विशेष रूप से चीन और अरब देशों में ज्ञान का बहुत अधिक विकास हो रहा था। इस प्रकार भारतवर्ष अन्य देशों से बहुत पिछड़ा जा रहा था।

अब भी ज्ञान और साहित्य की भाषा संस्कृत थी। इस काल की सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक 'कथा सरित्सागर' थी। यह एक कहानी-संग्रह है। राजाओं के जीवन-चरित्र भी लिखे जाते थे। विल्हण ने 'विक्रमांकदेव-चरित' की रचना की। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर का संसार प्रसिद्ध इतिहास बारहवीं शताब्दी में लिखा। उत्तर भारत में कृष्ण की उपासना का प्रचार बढ़ा और राधा और कृष्ण की प्रेम-कथा बड़ी लोकप्रिय हो गई। इस कथा के आधार पर बहुत-सी कविताएँ लिखी गईं। जयदेव का 'गीत गोविन्द' उनमें से एक है।

संस्कृत के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं का भी विकास हो रहा था। ये वही भाषाएँ थीं जिन्हें क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में हम अच्छी तरह जानते हैं। इनका विकास सर्वसाधारण के द्वारा बोली जाने वाली अपभ्रंश भाषाओं से हुआ। अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ है बिगड़ी हुई भाषा। इस समय विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। किन्तु साधारण जन

अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहार करते थे। पश्चिमी भारत में गुजराती और मराठी के आरंभिक रूप और पूर्वी भारत में बँगला के आरंभिक रूप का बोलचाल में व्यवहार होता था।

धर्म

हिन्दू धर्म के अंतर्गत भक्ति भावना के प्रचार से इन भाषाओं के विकास में बड़ी सहायता मिली। दक्षिणी भारत के तमिल भक्त संतों ने इस भावना को आरंभ किया और धीरे-धीरे यह भावना उत्तर भारत में भी फैलने लगी। भक्त उपदेशक क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग करते थे क्योंकि वे निम्न वर्ग के लोगों, नगर के शिल्पकारों और गाँव के किसानों को उपदेश देते थे। भक्ति संप्रदाय की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण भी बौद्ध धर्म का कुछ सीमा तक पतन हुआ। मध्यकाल में केवल पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म लोकप्रिय रहा। वहाँ उसको पाल राजाओं और धनी व्यापारियों से प्रोत्साहन मिला। बौद्ध धर्म अब वह सामान्य धर्म नहीं रह गया था जिसकी शिक्षा गौतम बुद्ध ने दी थी। जब तुर्कों ने नालंदा के मठ पर आक्रमण किया तब बौद्ध भिक्षु दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में भाग गए।

उत्तर भारत में वैष्णव और शैव दोनों संप्रदायों को मानने वाले लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। विष्णु की उपासना का सर्वश्रेष्ठ रूप उनका कृष्ण का अवतार था। कृष्ण के बाल जीवन की, उनकी गोपों के साथ मथुरा में गाय चराने की, राधा के प्रेम की तथा उनसे कंस के युद्ध की अनेक कथाएँ प्रचलित हो गईं। इन कहानियों को कविता के रूप में गाया जाता था और मंदिरों की दीवारों पर मूर्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। अयोध्या के राजकुमार के रूप में विष्णु का राम-अवतार भी बड़ा लोकप्रिय था।

वास्तुकला और चित्रकला

प्रत्येक प्रसिद्ध राजा और शक्तिशाली

कोणार्क का सूर्य मंदिर
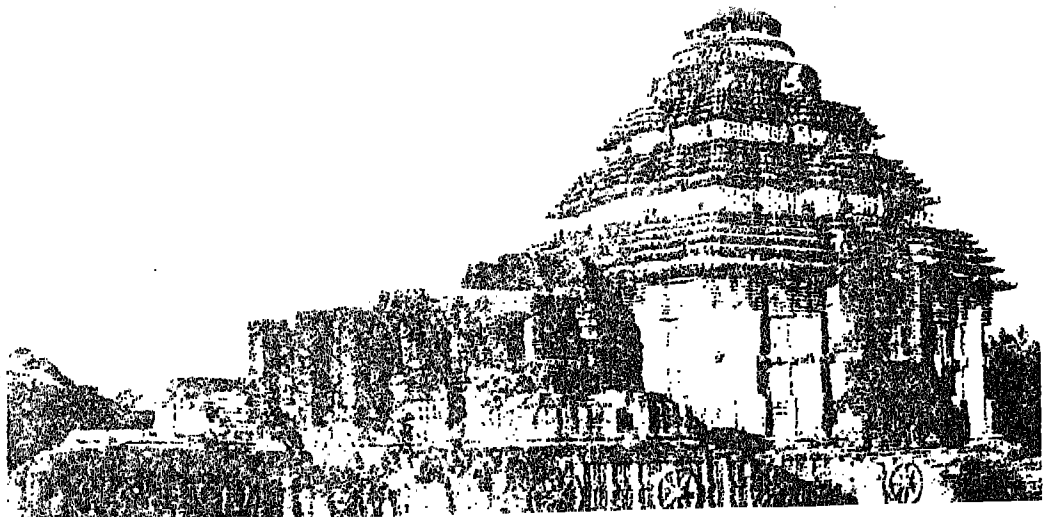
सामंत मंदिर बनवाता था। इस काल के बने हुए सैकड़ों छोटे-बड़े मंदिर हैं। उड़ीसा के पुरी और भुवनेश्वर के मंदिर तथा कोणार्क का सूर्य मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध व प्रभावोत्पादक मंदिर हैं। चंदेल राजाओं ने मध्य भारत में खजुराहो के मंदिर बनवाए। राजस्थान और गुजरात में भी बहुत-से सुंदर मंदिरों का निर्माण हुआ। राजस्थान में आबू पर्वत पर बने सफेद संगमरमर के जैन मंदिरों का एक समूह है। हिन्दुओं के लगभग सभी मंदिरों में विष्णु और शिव की मूर्तियाँ थीं।

पाल वंश के राजा हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के संरक्षक थे। उनके मंदिरों में काँसे की अथवा स्थानीय काले पत्थर की बनी देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ सुशोभित थीं। इन मूर्तियों में से अनेक नालंदा के पड़ोस में हुई खुदाई से प्राप्त हुई हैं।

भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर

वास्तुकला और मूर्तिकला के अतिरिक्त इस काल में चित्रकला का भी विकास हुआ। मंदिरों और राजमहलों की दीवारों को सजाने के लिए भित्ति चित्रों की प्राचीन परंपरा को जारी रखा गया। इस काल में एक भिन्न प्रकार की चित्रकला का आरंभ हुआ जो बाद में मुगल काल में बड़ी लोकप्रिय हुई। यह लघु चित्रों के बनाने की कला थी। चित्रकार पुस्तकों को सचित्र करने के लिए ये चित्र बनाते थे। पश्चिम भारत के जैन भिक्षुओं और पूर्वी भारत तथा नेपाल के बौद्ध भिक्षुओं को अपनी हस्तलिखित पुस्तकों को सचित्र बनाने का बड़ा शौक था। पुस्तक के ताड़ पत्र के बने पृष्ठों पर वे छोटे-छोटे चित्र बनाते थे जिसमें वे उस पृष्ठ में लिखे हुए विषय और दृश्यों का चित्रण करते थे। आरंभ में ये चित्र बड़े साधारण होते थे। धीरे-धीरे उनमें अधिक बारीकी का प्रदर्शन और अधिक रंगों का प्रयोग किया जाने लगा जिससे वे अपने आप चित्रकला के आदर्श नमूने बन गए।
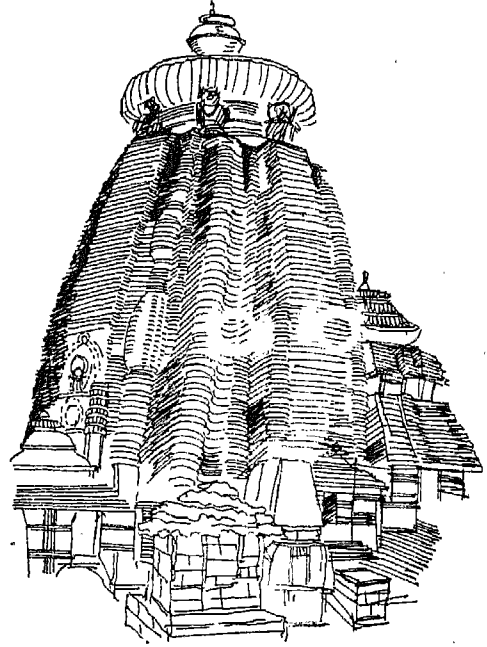
मांउट आबू स्थित एक जैन मंदिर के स्तंभ

800 ई० से 1200 ई० तक के समय में भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में बड़े परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने जीवन के नवीन आदर्शों का निर्माण किया। इस काल में उत्तर और दक्षिण भारत में एक ही प्रकार की घटनाएँ हुईं। इस काल में इस विशाल देश के विभिन्न भाग एक दूसरे के अधिक निकट संपर्क में आए। तुर्क और अफगान शासक संपूर्ण भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखते थे। इससे संपर्क बढ़ाने की यह भावना और अधिक दृढ़ बनती गई।
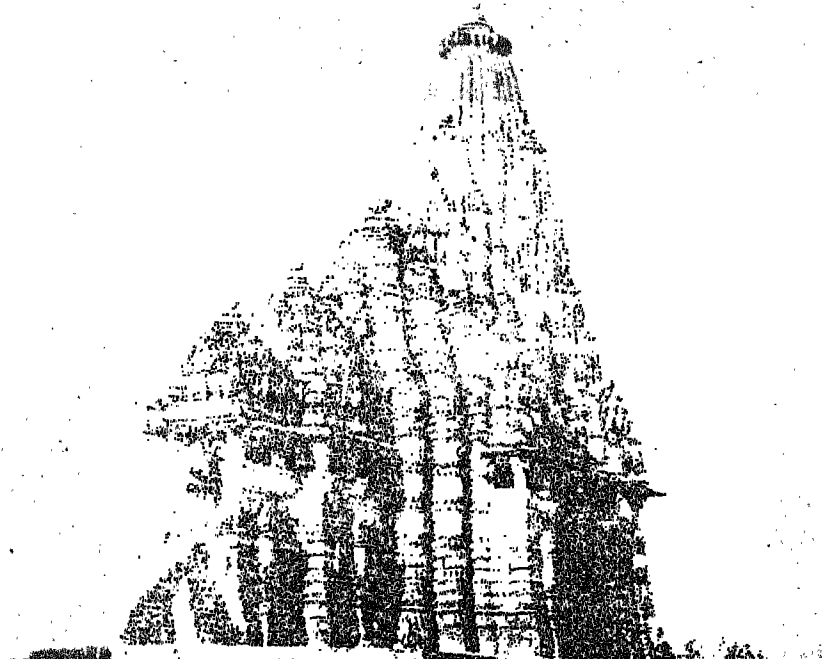
खजुराहो का कन्दरिया महादेव मंदिर

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **म्लेच्छ**—जाति बहिष्कृत, असभ्य
2. **सूर्य वंश**—सूर्य से उत्पन्न हुआ परिवार
3. **चंद्र वंश**—चंद्रमा से उत्पन्न हुआ परिवार
4. **अग्नि कुल**—अग्नि से उत्पन्न हुआ परिवार
5. **अपभ्रंश**—जन साधारण के द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ

II. 'अ' स्तंभ में दिए तथ्यों का 'आ' स्तंभ में दिए हुए तथ्यों से संबंध स्थापित कीजिए:

अ	आ
(1) राष्ट्रकूट वंश के राजा	(1) अवंती और राजस्थान के दक्षिणी भाग के कुछ क्षेत्रों पर शासन करते थे।
(2) प्रतिहार वंश के राजा	(2) बारहवीं शताब्दी में लिखा गया।
(3) महमूद गजनवी के आक्रमणों का उद्देश्य	(3) दक्षिण भारत के उत्तरी क्षेत्र में नासिक के आसपास की भूमि पर शासन करते थे।
(4) कल्हण का कश्मीर का प्रसिद्ध इतिहास	(4) बहुत बड़ी संख्या में उत्तर भारत में थे।
(5) शैव और वैष्णव संप्रदायों के अनुयायी	(5) विशेष रूप से लूट का धन प्राप्त करना था।

III. प्रत्येक वाक्य के सामने कोष्ठकों में दिए हुए शब्दों या शब्द समूहों द्वारा वाक्य के रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

1. उत्तर भारत में बहुत से युद्ध...............नगर पर अधिकार करने के लिए लड़े गए। (तंजौर, नासिक, कन्नौज)।
2. उत्तरी दक्षिणापथ में...............के चारों ओर के क्षेत्र में शासन करते थे। (प्रतिहार, पाल, चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तर भारत, मध्य भारत, बंगाल, कन्नौज, नासिक)।
3. पाल वंश के राजाओं ने लगभग सौ वर्ष शासन किया और उनके राज्य का विस्तार लगभग संपूर्ण...............में विशेष रूप से...............क्षेत्र में था। (एक, दो, चार, भारत, दक्षिणापथ, बंगाल, असम, मद्रास, बिहार, उड़ीसा)।
4. पाल वंश के राजा...............के चोल वंश के राजाओं की भाँति...............के व्यापार में विशेष रुचि रखते थे। (उत्तर भारत, मध्य भारत, दक्षिणापथ, सुदूर दक्षिण, उत्तर-पूर्वी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, मध्य एशिया)।

5. ....वर्षों के थोड़े से समय में महमूद ने भारत पर................आक्रमण किए। (पाँच, दस, पंद्रह, पच्चीस, दस, बारह, सत्रह, अठारह)।

IV. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:

1. त्रिदलीय संघर्ष से तुम क्या समझते हो? उस संघर्ष का क्या परिणाम हुआ?
2. महमूद गजनवी के भारत पर आक्रमण के कौन-से प्रमुख कारण थे?
3. महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के आक्रमणों में क्या अंतर था?
4. इस काल में देश की आर्थिक व्यवस्था और शासन प्रणाली में किस प्रकार परिवर्तन हुए?

V. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. एशिया के मानचित्र में उन भागों को दिखलाओ जिनसे महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किए। उन स्थानों को भी दिखलाओ जिन पर उनके आक्रमण हुए।
2. नालंदा से प्राप्त पाल-वास्तुकला की और इस काल के लघु चित्रों की कुछ तस्वीरें एकत्र करने का प्रयत्न करो।

अध्याय 4

दिल्ली के सुल्तान

गुलाम सुल्तान (1206 ई० से 1290 ई० तक)

दिल्ली के सुल्तानों में आरंभिक शासक ममलूक थे। वे गुलाम बादशाह भी कहे जाते हैं क्योंकि उनमें से कुछ तो गुलाम थे और कुछ गुलामों के पुत्र थे जो सुल्तान बन गए थे। इन शासकों में सबसे पहला मुहम्मद गौरी का सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक था। मुहम्मद गौरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ने भारत में रहकर अपना साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय किया। गजनी के शासक ने कुतुबुद्दीन ऐबक के राज्य को अपने राज्य में मिला लेना चाहा पर उसको इसमें सफलता नहीं मिली। जब कुतुबुद्दीन के बाद इल्तुतमिश सुल्तान बना तब यह स्पष्ट हो गया कि उत्तर भारत एक अलग राज्य रहेगा। तभी इस नए राज्य की जिसको दिल्ली की सल्तनत कहा जाता है, स्थापना हुई। धीरे-धीरे दिल्ली के सुल्तानों ने पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सिन्ध तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।

परंतु इस सल्तनत पर शासन करना आसान काम नहीं था। सुल्तानों ने दो बड़ी समस्याओं का सामना किया। एक का संबंध तो उन्हीं के साथियों से था और दूसरी का उत्तर भारत के स्थानीय राजाओं से। बहुत से तुर्क सरदार और गुलाम मध्य एशिया से आकर भारत में बस गए थे। सुल्तान अपने राज्य को अपने सरदारों में बाँट देता था और उसके बदले में वे सुल्तान को सैनिक देते थे और सल्तनत का शासन चलाने में उसकी सहायता करते थे। जैसा कि उत्तर भारत में पहले से होता आया था, सरदारों को केवल भूमि का लगान दिया जाता था, भूमि पर उनका कोई स्वामित्व नहीं होता था। इस प्रकार सुल्तान समझता था कि वह सरदारों को अपने अधिकार में रख सकता है। किन्तु सरदार उस प्राप्त अनुदान से सदैव संतुष्ट नहीं रहते थे और सुल्तान के लिए उनको संतुष्ट रखना

कठिन हो गया था।

सुल्तान के सामने उन स्थानीय राजाओं की भी समस्या थी जिनके ऊपर विजय प्राप्त की गई थी। कुछ की भूमि तो उनसे ले ली गई थी और कुछ को अपनी भूमि पर फिर अधिकार दे दिया गया था। जिनको भूमि पर फिर अधिकार दे दिया गया था वे सुल्तान को कर के रूप में कुछ धन देते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे सुल्तान को सैनिक सहायता देने के लिए राजी हो गए थे। इन राजाओं में वे राजपूत सरदार भी थे जिनको पराजित किया गया था। वे अपने सैनिक एकत्र कर लेते थे और सुल्तान की सेनाओं को परेशान करते रहते थे। फिर भी सभी राजपूत सरदार विरोधी नहीं थे। कुछ सल्तनत के साथ मित्रता का संबंध भी बनाए हुए थे।

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर एक और नई कठिनाई थी। अफगानिस्तान के शासक तो शांत थे किन्तु मध्य एशिया के मंगोल चंगेजखाँ के नेतृत्व में नवीन प्रदेशों को जीत रहे थे। सिन्धु नदी के किनारे का क्षेत्र मंगोलों के अधिकार में आ गया। प्रायः वे नदी को पार करके पंजाब पर आक्रमण करते थे। कुछ समय के लिए उन्होंने पंजाब पर भी अधिकार कर लिया और सल्तनत के लिए संकट का कारण बन गए।

ये सभी समस्याएँ सुल्तान इल्तुतमिश के सामने मुसीबत बनकर खड़ी थीं। जब उसकी मृत्यु हो गई तब उसकी पुत्री रजिया के सामने भी यही समस्याएँ आईं। स्त्री होने के कारण उसके लिए ये समस्याएँ और अधिक कठिन हो गईं। किन्तु उसने केवल थोड़े समय तक शासन किया। कई साधारण सुल्तानों के बाद शक्तिशाली और दृढ़ निश्चय वाला बलबन दिल्ली का सुल्तान बना।

बलबन को इन समस्याओं के सुलझाने में इल्तुतमिश से अधिक सफलता मिली। उत्तर में मंगोलों के आक्रमणों से उसने सल्तनत की रक्षा की। सल्तनत के अंदर और उसकी सीमा पर विद्रोह करने वाले स्थानीय शासकों से उसने कई लड़ाइयाँ लड़ीं। उसके सरदार इस समय बड़े शक्तिशाली हो गए थे और वे सुल्तान के सम्मान का भी ध्यान नहीं रखते थे और उसको धमकी देते रहते थे। बलबन के सामने यह सबसे गंभीर समस्या थी। धीरे-धीरे, किन्तु दृढ़ता से बलबन ने उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया और अंत में सुल्तान ही सबसे अधिक शक्तिशाली बन गया। उसने अपने सरदारों को राजभक्त बनाने में भी सफलता प्राप्त की। उसने सेना के संगठन में तथा शासन-प्रणाली में कुछ परिवर्तन किए जिससे कुछ हद तक उसको अपनी समस्याओं को सुलझाने में सफलता मिल गई। वह इस बात पर अधिक बल देता था कि सेना और शासन पर सुल्तान का पूर्ण अधिकार हो। इस प्रकार वह सरदारों के किसी भी विद्रोह को दबा देने के लिए पूर्णरूप से शक्तिशाली था।

बलबन सुल्तान की निरंकुश शक्ति पर विश्वास करता था। सुल्तान की शक्ति को कोई चुनौती नहीं दे सकता था। उसने हख्मी और सासानी वंश के ईरान के महान् सम्राटों के विषय में सुना था और अपने को वह उन्हीं के समान बनाना चाहता था। उसने लोगों को अपने सामने सिजदा करने के लिए उत्साहित किया। सिजदा अर्थात् सुल्तान को सलाम करने के लिए घुटनों के बल बैठकर, अपने मस्तक को झुका कर पृथ्वी का स्पर्श करना। परंपरावादी मुसलमान इससे भयभीत हुए क्योंकि इस्लाम धर्म के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं इसलिए सिवा ईश्वर के और किसी के सामने सिजदा नहीं करना चाहिए।

खिलजी सुल्तान (1290 ई० से 1320 ई० तक)

सन् 1290 ई० में गुलाम वंश के बाद एक नए वंश, खिलजी वंश का शासन आरंभ हुआ। इस वंश का महत्त्वाकांक्षी नवयुवक अलाउद्दीन सन् 1296 ई० में सुल्तान हुआ। वह बलबन से भी अधिक ऊँचे सपने देखता था। वह दूसरा सिकंदर बनकर संसार को विजय करना चाहता था। इसलिए सुल्तान बनते ही उसने संपूर्ण भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न आरंभ किया। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए उसको तीन कार्य करने थे। पहला सरदारों को अपना स्वामिभक्त बनाना और उनकी शक्ति को अपने कब्जे में रखना, दूसरा दक्षिण और राजस्थान को जीतना और तीसरा मंगोलों को पीछे हटने के लिए विवश करना। यद्यपि इस समय तक मंगोलों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था पर वे सल्तनत पर आक्रमण करते रहते थे। इन सब कार्यों को करने के लिए उसको एक विशाल सेना की आवश्यकता थी। वह जब सुल्तान हो गया तब उसने नागरिकों को सोने-चाँदी के उपहार दिए। साथ ही उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह एक शक्तिशाली शासक है और जो उसके प्रति स्वामिभक्ति का प्रदर्शन न करेगा, उसके साथ वह कठोरता का व्यवहार करेगा।

एक विशाल सेना के लिए प्रचुर धनराशि की आवश्यकता थी। इसलिए अलाउद्दीन को अधिक लगान प्राप्त करने के उपाय सोचने पड़े। गंगा-यमुना के बीच के उपजाऊ क्षेत्र दोआब के धनी व्यक्तियों पर उसने भूमि-कर बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त सरदारों द्वारा वसूल किए जाने वाले लगान पर भी उसने अपनी कठोर दृष्टि रखी और उनको अपने भाग से अधिक प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया। कोई व्यापार में अधिक लाभ न प्राप्त कर सके और सभी लोग आसानी से सब वस्तुओं का मूल्य दे सकें इसलिए उसने वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण किया। उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य था लगान और खेती की भूमि के कर का फिर से निर्धारण। पहले उसने अपने राज्य की खेती की भूमि की नाप करवाई और फिर इस नाप के आधार पर लगान

निर्धारित किया गया। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा वसूल किए गए लगान का वह लेखा रखता था और उसका उस पर पूरा नियंत्रण था।

इस समय मंगोल अपनी कुछ कठिनाइयों में फँस गए थे। इसलिए कुछ समय तक के लिए सल्तनत को उनसे कोई भय नहीं रहा। इसीलिए अलाउद्दीन पश्चिम भारत के शासकों की ओर पूरा ध्यान दे सका। उसने गुजरात और मालवा के राज्यों पर चढ़ाई की। रणथंभौर और चित्तौड़ के प्रसिद्ध किलों को जीतकर उसने राजस्थान पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहा।

उसने दक्षिण भारत की ओर भी एक बड़ी सेना मलिक काफूर को सेनापति बनाकर भेजी। इसका उद्देश्य केवल दक्षिण प्रदेश पर विजय प्राप्त करना ही नहीं बल्कि धन-दौलत प्राप्त करना भी था। मलिक काफूर ने सभी दिशाओं में लूट-मार की और देवगिरि के यादवों, वारंगल के काकतीयों, द्वारसमुद्र के होयसलों तथा दक्षिण के अन्य राज्यों से बहुत अधिक मात्रा में सोना इकट्ठा किया। इन शासकों को अपने राज्य पर इस शर्त पर शासन करने दिया गया कि वे सुल्तान को कर देते रहें। मलिक काफूर ने मदुरै नगर पर भी आक्रमण किया। उत्तर भारत की कोई भी सेना इससे पहले इतने सुदूर दक्षिण तक नहीं पहुँच सकी थी। इस प्रकार कुछ काल तक अलाउद्दीन ने उतने ही बड़े साम्राज्य पर शासन किया जितने पर अशोक ने किया था। फिर भी उसका दक्षिण भारत पर सीधा अधिकार नहीं था।

खिलजी वंश के अंतिम सुल्तान को मार डाला गया और उसके स्थान पर तुगलक वंश के सुल्तान दिल्ली पर शासन करने लगे।

तुगलक सुल्तान (सन् 1320 ई० से सन् 1399 ई० तक)

तुगलक वंश के सुल्तान भी संपूर्ण भारत पर शासन करने का सपना देखते थे। आरंभ में तो उनको सफलता मिली पर शीघ्र ही विरोधी घटनाएँ होने लगीं। कुछ समय तक उन्होंने दक्षिण पर अपना अधिकार ही नहीं स्थापित किया बल्कि उस पर सीधा शासन भी करते रहे। किन्तु जब धीरे-धीरे सल्तनत कमजोर हो गई, तब स्थिति बदल गई। सुदूर दक्षिण क्षेत्र और दूर के प्रांतों के शासकों (गवर्नरों) ने सुल्तान राज्य की कमजोरी को समझ लिया और विद्रोह कर दिया और अंत में अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए।

तुगलक वंश के शासकों में मुहम्मद बिन तुगलक (1325 ई० से 1351 ई०) अधिक प्रसिद्ध था। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के अनेक साधन मिलते हैं। इस काल में उत्तर अफ्रीका का अरब यात्री इब्नबतूता भारत में आया और उसने मुहम्मद के शासन काल में यहाँ के निवासियों के जीवन का विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुहम्मद ऊँचे आदर्शों पर विश्वास करने वाला शासक था। उसने

तर्क पर आधारित सिद्धांतों पर शासन चलाने का प्रयत्न किया। उसके सलाहकारों में एक गणितज्ञ और एक तर्क-शास्त्री भी था। उसके बहुत-से विचार बड़े ही बुद्धिमत्तापूर्ण और विवेकपूर्ण थे परंतु उसने उनको सही तरीके से कार्यान्वित नहीं किया अत: परिणाम में उसको सफलता नहीं मिली।

मुहम्मद भारतवर्ष में ही नहीं मध्य एशिया में भी विजय प्राप्त करना चाहता था इसलिए उसको एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी और सेना के खर्च के लिए उसको बहुत-सा धन चाहिए था। इसलिए दोआब के किसानों पर उसने कर बढ़ा दिए। सबसे अधिक कठिनाई इस कारण बढ़ गई कि उस समय दोआब में अकाल पड़ रहा था। लोगों ने इस बढ़े हुए कर को देने से इनकार कर दिया और सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अंत में सुल्तान को अतिरिक्त कर वसूल करने के आदेश को रद्द करना पड़ा।

मुहम्मद अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर देवगिरि ले गया और उसका नया नाम दौलताबाद रखा। दौलताबाद औरंगाबाद के निकट है। वहाँ से दक्षिण भारत के प्रशासन पर भी अच्छा नियंत्रण रखा जा सकता था। फिर भी राजधानी का यह परिवर्तन सफल नहीं रहा। यह स्थान उत्तर भारत से दूर था और यहाँ से उत्तरी सीमा की सुरक्षा नहीं की जा सकती थी। इसलिए मुहम्मद दिल्ली लौट आया और दिल्ली एक बार फिर राजधानी बन गई। इस कार्य में दक्षिण के राज्यों को सल्तनत की कमजोरी के चिह्न दिखलाई पड़े। इसके बाद ही दक्षिण में दो स्वतंत्र राज्यों— बहमनी राज्य और विजयनगर राज्य का उदय हुआ। अब सुल्तान का दक्षिण भारत के राजनीतिक मामलों में कोई दखल नहीं रहा।

मुहम्मद तुगलक का किया हुआ एक और नया प्रयोग असफल रहा। यह प्रयोग भी अधिक धन प्राप्त करने का प्रयत्न था। उसने पीतल और ताँबे के सांकेतिक सिक्के चलाए जिनको राजकोष में देकर बदले में सोने-चाँदी के सिक्के प्राप्त किए जा सकते थे। यदि सुल्तान सांकेतिक सिक्कों के बनाने पर अपना नियंत्रण रखता और केवल राज्य ही के द्वारा इन सिक्कों का प्रचलन किया जाता तो इस योजना में सफलता मिलती किन्तु बहुत-से लोग ताँबे और पीतल के सांकेतिक सिक्के बनाने लगे। अत: अर्थ-व्यवस्था पर सुल्तान का कोई अधिकार नहीं रह गया। फलत: सांकेतिक सिक्कों का प्रचलन सुल्तान को बंद करना पड़ा।

दुर्भाग्य से मुहम्मद को अपनी सभी नीतियों और योजनाओं में असफलता मिली और उससे राज्य की जनता ही नहीं, उलेमा (विद्वज्जन) और सरदार भी असंतुष्ट हो गए। उलेमा इस्लाम धर्म के विद्वान व्यक्ति थे और अपने दृष्टिकोण में कट्टर परंपरावादी थे। यदि सुल्तान को जनता, अपने सरदारों और उलेमाओं का पूर्ण

सहयोग प्राप्त होता तो उसको उनसे अधिक अच्छी सलाह मिलती और हो सकता है कि अपनी कुछ योजनाओं में उसको सफलता भी मिलती।

मुहम्मद के बाद उसका चचेरा भाई फीरोजशाह (1351 ई० से 1388 ई०) गद्दी पर बैठा। फीरोज ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया कि मुहम्मद की असफलता का एक कारण यह भी था कि उसे सरदारों और उलेमाओं का सहयोग नहीं मिला। अतः फीरोज ने उनके साथ समझौता कर लिया और उनको लगान का अनुदान देकर संतुष्ट रखा। वह सरदारों के साथ व्यवहार करने में उदार था। उसने प्रशासन की कुछ नीतियों को परंपरावादी उलेमा द्वारा प्रभावित होने दिया। वह केवल उन पर ही असहिष्णु नहीं था जो मुसलमान न थे बल्कि उन मुसलमानों पर भी असहिष्णु था जो परंपरावादी नहीं थे। इस प्रकार फीरोज ने दरबार के शक्तिशाली समुदायों के साथ अपने संबंध अच्छे बना लिए पर इसके साथ ही साथ सुल्तान की शक्ति भी कम हो गई।

इस बीच में कुछ प्रांतों (आधुनिक बिहार और बंगाल) के शासकों ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सुल्तान ने विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया पर उसको अधिक सफलता नहीं मिली।

सुल्तान को अपनी प्रजा की भलाई का बड़ा ध्यान था। उसने सिंचाई की योजनाएँ बना कर नहरों और इस प्रकार अपने राज्य के कुछ क्षेत्रों की उन्नति की। यमुना नहर इन्हीं नहरों में से एक है। उसने फिरोजपुर, फिरोजाबाद, हिसार, फिरोजा और जौनपुर

दिल्ली में हौजखास स्थित फिरोज तुगलक का मकबरा

आदि नए नगर बसाए तथा शिक्षा संस्थाओं और अस्पतालों की संख्या में वृद्धि की। फीरोज को भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में भी रुचि थी। उसके आदेश से संस्कृत की अनेक पुस्तकों का जिनमें धर्म और दर्शन की भी कुछ पुस्तकें थीं, अरबी और फारसी में अनुवाद किया गया। उसने अशोक के दो स्तंभों को दिल्ली मँगवाया और उनमें से एक को अपने राजमहल की छत पर लगवाया।

फीरोज की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में गृह युद्ध आरंभ हुआ। बहुत-से प्रांतों के गवर्नर स्वतंत्र होकर अपने प्रांत के शासक बन गए। अंत में तुगलक वंश के सुल्तानों का राज्य केवल दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में सीमित रह गया।

दिल्ली सल्तनत का पतन

सन् 1398 में उत्तर भारत पर फिर मध्य एशिया की सेनाओं का आक्रमण हुआ। तुर्क सरदार तैमूर ने जिसे तैमूरलंग भी कहा जाता है, अपनी विशाल सेना लेकर भारत पर आक्रमण कर दिया। उद्देश्य केवल उत्तर भारत पर आक्रमण करना और लूट का माल लेकर मध्य एशिया लौट जाना था। तैमूर के सैनिकों ने दिल्ली में प्रवेश किया। उन्होंने नगर को लूटा और नगर निवासियों की हत्या की। यह किसी भी नगर के लिए एक बड़ी भयानक घटना थी। जब उन्होंने पर्याप्त मात्रा में धन लूट लिया तब वे समरकंद लौट गए। महमूद गजनवी की भाँति तैमूर ने भी भारत से लूटे धन को शानदार इमारतें, राजमहल और मस्जिदें बनवाकर समरकंद को सजाने में व्यय किया। वह मध्य एशिया के कुछ भागों के विशाल क्षेत्र पर शासन करता था और उसका साम्राज्य ईरान तक फैला हुआ था। उस समय पश्चिमी एशिया में तुर्क बड़े शक्तिशाली थे और उनको अरब और बैजंटाइन दोनों संस्कृतियाँ उत्तराधिकार में मिली थीं।

किन्तु भारत की दशा बड़ी दयनीय और असहाय थी। सन् 1413 ई० में तुगलक वंश का अंत हो गया और एक स्थानीय शासक ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसने अपने को सुल्तान घोषित किया और सैयद वंश (1414 ई० से 1451 ई०) की स्थापना की। पर इस वंश का शासन काल बहुत थोड़ा रहा। एक दूसरे गवर्नर ने जो लोदी वंश का एक अफगान सरदार था दिल्ली के राज्य पर जबरदस्ती अपना अधिकार कर लिया।

लोदी वंश (1451 ई० से 1526 ई० तक)

लोदी वंश के शासकों ने सल्तनत को संगठित करने का प्रयत्न किया। विद्रोही गवर्नरों की शक्ति को दबाने का प्रयत्न किया गया। जौनपुर के राज्य से बहुत समय तक संघर्ष चलता रहा पर अंत में उसको अधीन कर लिया गया। सिकंदर लोदी (सन् 1489 ई० से 1517 ई०) ने पश्चिमी बंगाल तक गंगा की घाटी पर अपना अधिकार कर लिया। वह राजधानी को

दिल्ली में सिकन्दर लोदी का मकबरा

दिल्ली से हटाकर एक नए नगर में ले गया जो बाद में आगरा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह अनुभव करता था कि आगरा से वह और भी अच्छी तरह से अपने राज्य का नियंत्रण कर सकेगा। जनता की भलाई के अनेक कार्य करके सिकंदर ने प्रजा को राजभक्त और राज्य को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। वस्तुओं का मूल्य घटाकर और मूल्यों का नियंत्रण करके उसने राज्य की आर्थिक दशा को सुधारने का प्रयत्न किया।

लोदी सुल्तान अफगान थे। अतः वे अफगान सरदारों की राजभक्ति पर अधिक निर्भर थे। किन्तु राजा की शक्तिशाली स्थिति को देखकर ये सरदार अधिक प्रसन्न नहीं थे। उनमें से कुछ ने विद्रोह करके अपने असंतोष को व्यक्त किया। प्रमुख अफगान सरदारों ने अंतिम लोदी सुल्तान इब्राहीम का बड़ा विरोध किया। अंत में काबुल के शासक बाबर के साथ उन्होंने षड्यंत्र किया और सन् 1526 ई० में इब्राहीम को पराजित करने में सफल हुए।

सरदार

हमने प्रायः यह उल्लेख किया है कि सरदार बड़े शक्तिशाली थे। कभी वे प्रशासन की नीति को प्रभावित करते थे, कभी गवर्नर की हैसियत से विद्रोह कर स्वतंत्र शासक बन जाते थे और कभी दिल्ली के सिंहासन पर जबरदस्ती अधिकार भी कर लेते थे। इन सरदारों में से अधिकांश उन तुर्क और अफगान परिवारों के थे जो भारत में बस गए थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो भारत में अपना भाग्य आजमाने विदेशों से आए थे और सुल्तान की सेवा

करने लगे थे। प्रांतों में काम करने वाले गवर्नर और सेनापति जैसे अधिकांश अधिकारी ऐसे ही परिवारों के वंशज थे। इन अधिकारियों के रूप में भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं की भी नियुक्ति अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल के बाद होने लगी।

नकद वेतन देने के स्थान पर गाँव या किसी क्षेत्र की भूमि का लगान अधिकारियों को अनुदान में देने की प्रथा को सुल्तानों ने जारी रखा। यह अनुदान पैतृक संपत्ति नहीं था। इसको एक अधिकारी से लेकर दूसरे को दे दिया जाता था। किन्तु जैसा कि प्राचीन काल में होता था, जब केन्द्रीय शासन कमजोर हो जाता था, तब यह अनुदान पैतृक संपत्ति बन जाता था। किसी भूमि भाग से लगान वसूल कर रख लेने का अनुदान इक्ता प्रणाली कहलाता था। अधिकारी अपने इकट्ठे किए हुए लगान से कुछ भाग अपने वेतन के रूप में ले लेता था। शेष भाग से वह सुल्तान के लिए सैनिकों की व्यवस्था करता था। यदि अब भी लगान बच जाता तो वह सुल्तान को भेज दिया जाता था। अधिकारी से यह आशा की जाती थी कि वह अपनी आमदनी और व्यय का पूरा हिसाब रखेगा। अधिकारी पर उस भूमि भाग में कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी थी जिस भूमि भाग का वह लगान वसूल करता था। कभी-कभी भिन्न प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। सुल्तान को भेजी जाने वाली धन राशि निश्चित थी और उसको साल के अंत में अदा किया जाता था। इतना होने पर भी सरदारों के पास काफी धन रहता था और वे बड़ी शान-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। कभी-कभी उनमें से कुछ हिन्दू महाजनों के कर्जदार भी रहते थे।

सुल्तान की शासन-प्रणाली

सुल्तान की शासन-प्रणाली का मुख्य संबंध भूमि का लगान वसूल करने तथा उसका हिसाब रखने के काम से था। साथ ही वह कानून-व्यवस्था को भी बनाए रखता था। कुछ आरक्षित भूमि भी थी और उस पर सीधे सुल्तान का अधिकार था। इस भूमि के लगान को सुल्तान अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए व्यय करता था। इस प्रकार की भूमि का लगान निश्चित था। उपज़ का एक तिहाई भाग लगान के रूप में लिया जाता था। यह राज्य का हिस्सा था। गाँव और जिले में काम करने वाले स्थानीय अधिकारी इस लगान को वसूल करते थे। ये अधिकारी उसी प्रकार कार्य करते थे जिस प्रकार वे तुर्कों और अफगानों के आने से पहले किया करते थे। गाँवों के प्रशासन की प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था। कई अधिकारी ये कार्य करते थे जैसे **मुकद्दम** गाँव का वंश-परंपरागत मुखिया होता था। **पटवारी** स्थानीय कागजात रखता था। **मुशरिफ** लगान वसूली के समय सहायता करता था और उसके हिसाब की देखभाल करता था। पटवारी के बही-खाते में हिसाब लिखा जाता था। इन गाँव के अधिकारियों के बहुत से नामों का प्रयोग आज भी किया जाता है।

दरबार में भी ऐसे अधिकारी होते थे जो लगान का हिसाब रखते थे। इन अधिकारियों में **वजीर** और **बख्शी** (सेना का अधिकारी)सबसे प्रमुख थे। वजीर और उसके कर्मचारी लगान वसूल हो जाने पर उसके हिसाब की देखभाल करते थे और अनुदान का लेखा रखते थे।

दरबार के अन्य अधिकारी भी थे जो प्रशासन के अन्य कार्यों की देखभाल करते थे। कुछ सेना और उसके साज-सामान की देखभाल करते थे। कुछ सल्तनत और अन्य राज्यों के पारस्परिक संबंधों को बनाए रखने का कार्य करते थे। प्रमुख **काजी** प्रमुख न्यायाधीश होता था और वह धार्मिक मामलों में भी अपनी राय देता था। वजीर इन सभी अधिकारियों के कार्यों की देख-रेख करता था। सुल्तान बहुत अधिक मात्रा में वजीर के कार्य-कौशल और उसकी सलाह पर निर्भर था किन्तु अंतिम निर्णय सुल्तान ही लेता था।

नए राज्य

जैसे-जैसे सल्तनत की शक्ति कम होती गई इस विशाल देश के विभिन्न भागों में बहुत-से नए राज्य बनते गए। इसमें से बहुत-से पहले सल्तनत के प्रांत थे और बाद में स्वतंत्र राज्य बन गए।

पश्चिमी भारत में मालवा और गुजरात के राज्य थे। अहमदाबाद नगर की स्थापना करने वाले अहमदशाह ने गुजरात के राज्य को शक्तिशाली बनाया। सुंदर दुर्ग-नगर **मांडू को बनवाने वाले हुसंगशाह के शासन-काल में मालवा का राज्य महत्त्वपूर्ण हो** गया। गुजरात और मालवा लगातार परस्पर युद्ध करते रहे जिससे उनकी शक्ति नष्ट हो गई। राजपूतों के दो राज्यों मेवाड़ और मारवाड़ के संबंध में यही बात सत्य हुई। यद्यपि दोनों राज्यों में वैवाहिक संबंध थे पर दोनों परस्पर युद्ध करते रहे। यह दूसरा अवसर था जब राजपूत केवल सुल्तान से ही नहीं बल्कि आपस में भी युद्ध करते रहे। मेवाड़ के राणा कुंभा का स्मरण लोग आज तक करते हैं। वह बहुमुखी प्रतिभा वाला व्यक्ति था। शासक होने के साथ-साथ वह अच्छा कवि और संगीतकार भी था। इसी समय के लगभग राजपूतों के जोधपुर और बीकानेर जैसे अन्य बहुत से राज्यों की स्थापना हुई।

इस काल में कश्मीर का राज्य भी महत्त्वपूर्ण बन गया। जैनुल आबेदीन कश्मीर का बड़ा ही लोकप्रिय शासक था। वह बादशाह कहलाता था। उसने पंद्रहवीं शताब्दी में राज किया। फीरोज तुगलक की भाँति उसने संस्कृत और फारसी के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। आज भी लोग कहते हैं कि वह अपनी प्रजा की भलाई का बड़ा ध्यान रखता था और बड़ा ही नेक शासक था।

पूर्वी भारत में जौनपुर और बंगाल दो प्रमुख राज्य थे। दिल्ली सुल्तान के गवर्नरों ने इन राज्यों की स्थापना की। बाद में उन्होंने सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह किया।
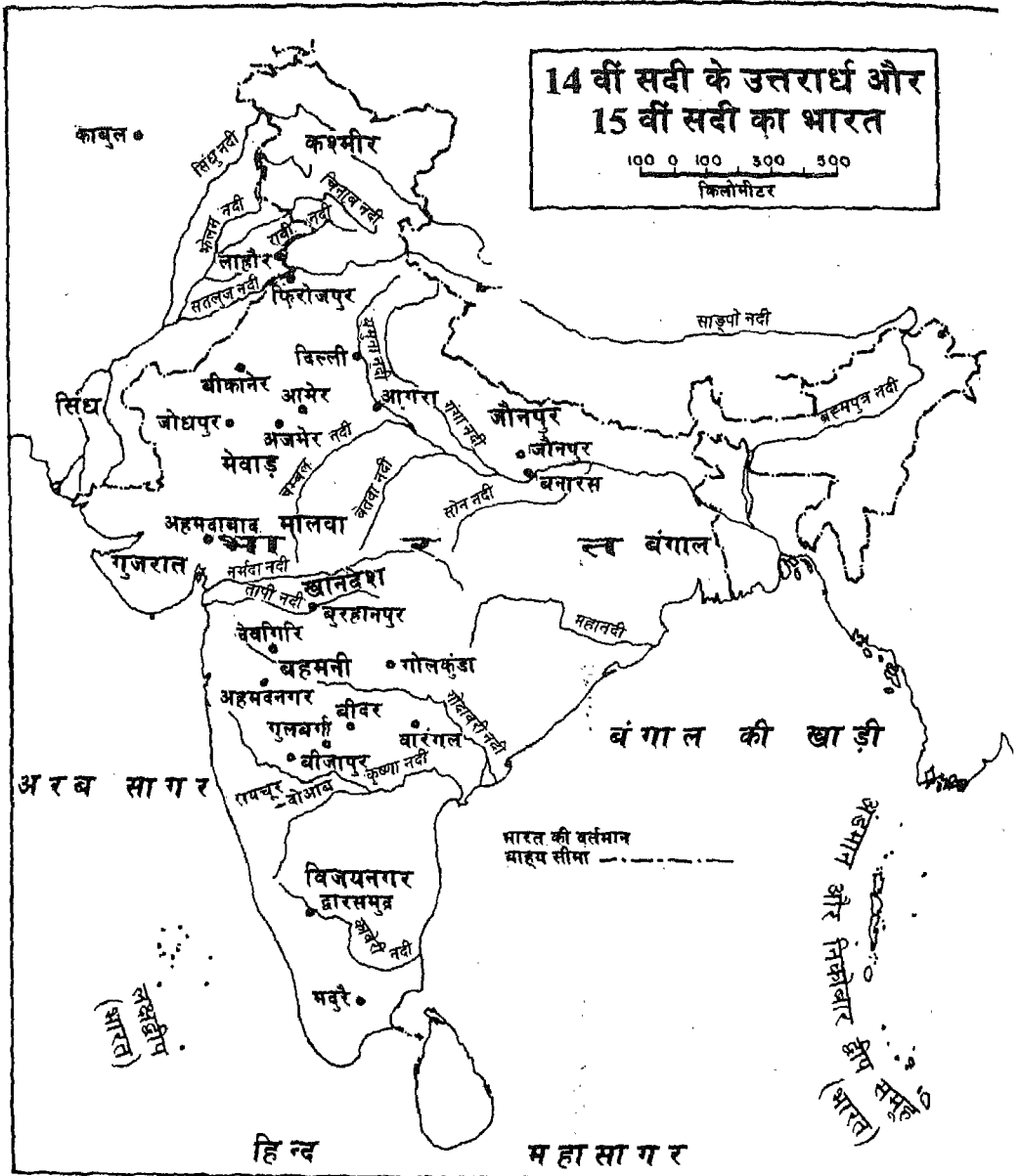
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

जौनपुर पर शरकी वंश के लोगों का राज्य था। उनकी इच्छा दिल्ली पर अधिकार कर लेने की थी पर वास्तव में वे कभी दिल्ली पर अधिकार न कर सके। बाद में जौनपुर हिन्दी साहित्य और शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बन गया। बंगाल पर विभिन्न वंश के लोगों का राज्य था। वे प्रायः अफगान और तुर्क थे। उन्होंने थोड़े समय तक शासन किया। फिर अबीसीनिया के एक स्थानीय सरदार ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। ये सभी शासक स्थानीय संस्कृति के संरक्षक थे और बंगला भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन देते थे

दक्षिण और सुदूर दक्षिण में बहमनी और विजयनगर राज्यों की स्थापना हुई। जब मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में सल्तनत का दक्षिणी भारत पर अधिकार कमजोर हो गया तब इन राज्यों का उदय हुआ। सुल्तान के अधिकारियों ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किया और इन राज्यों की स्थापना की।

बहमनी बादशाह फीरोजशाह का सिक्का

मुहम्मद बिन तुगलक के एक अधिकारी हसन गंगू ने बहमनी राज्य की नींव डाली। सन् 1347 ई० में हसन ने सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किया और बहमनी राज्य को स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया। उसने बहमन शाह की उपाधि धारण की और वह इस राज वंश का पहला शासक बना। बहमनी राज्य के अंतर्गत कृष्णा नदी तक का दक्षिण प्रदेश का संपूर्ण उत्तरी क्षेत्र था।

इस राज्य के दक्षिण में विजयनगर का राज्य था। हरिहर और बुक्का नाम के दो भाइयों ने इस राज्य की नींव डाली। उन्होंने भी सल्तनत की घटती हुई शक्ति का अनुभव किया। इन्होंने होयसल के राज्य (आधुनिक मैसूर राज्य) के क्षेत्र को विजय किया और सन् 1336 ई० में अपने को विजयनगर राज्य का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। उन्होंने हस्तिनावती (आधुनिक हंपी) को अपनी राजधानी बनाया। यदि बहमनी और विजयनगर में परस्पर मित्रता का संबंध होता तो वे बड़े शक्तिशाली राज्य बन सकते थे। पर दुर्भाग्य से उनमें सदैव युद्ध होता रहता था। इसके अनेक कारण थे। उनमें से एक कारण यह था कि दोनों राज्य रायचूर दोआब को अपने राज्य का हिस्सा (अंग) मानते थे। यह कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच का उपजाऊ भूमि भाग था और दोनों राज्यों के बीच में स्थित था। बहमनी राज्य के गोलकुंडा क्षेत्र में हीरे की खानें थीं और विजयनगर के शासक गोलकुंडा को जीतना चाहते थे। यह दूसरा
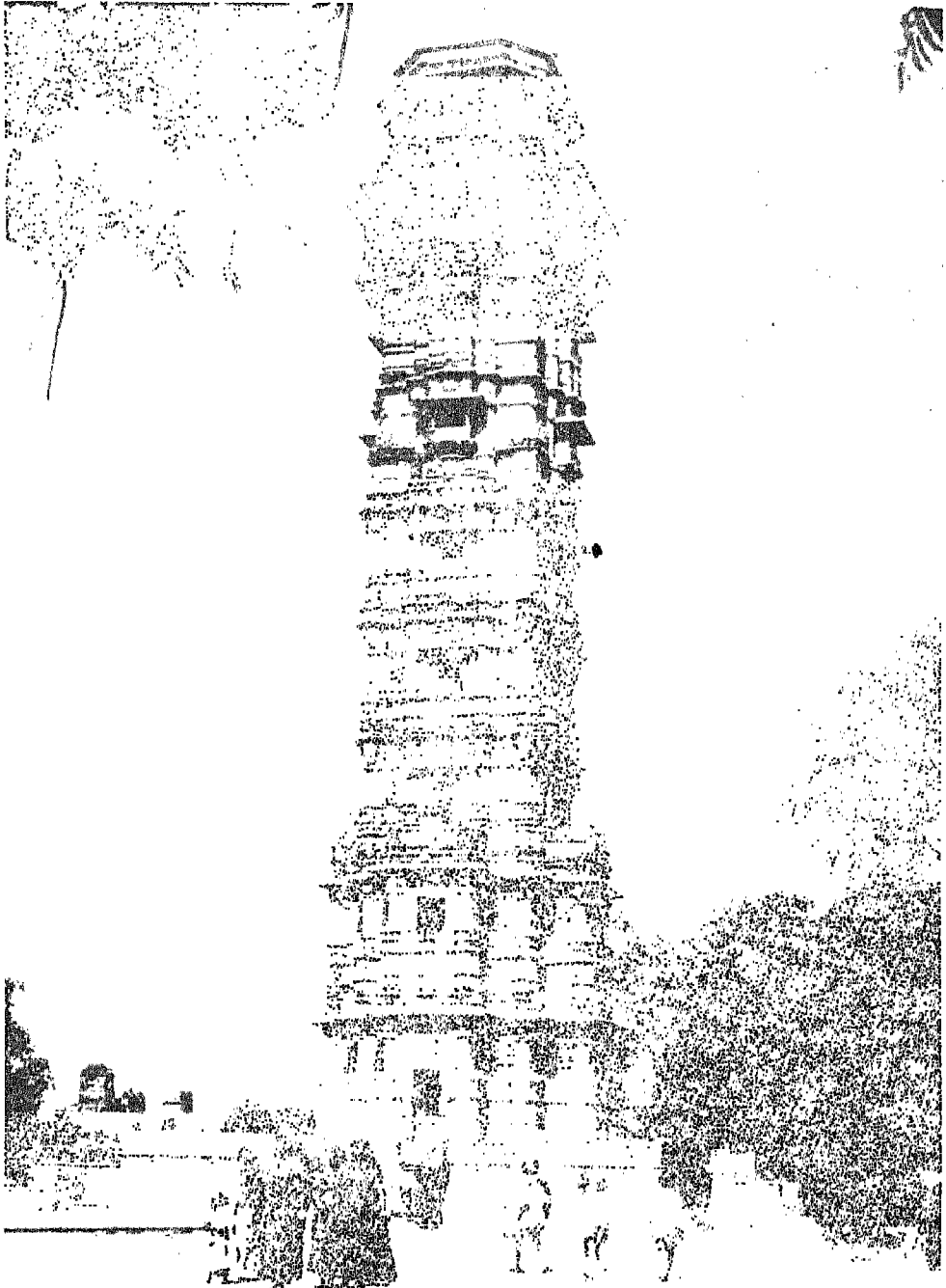
चित्तौड़गढ़ विजय स्तंभ

कारण था। फिर एक कारण यह भी था कि दोनों राज्यों के शासक बड़े महत्त्वाकांक्षी थे और संपूर्ण प्रायद्वीप पर अपना अधिकार चाहते थे।

ये युद्ध इन्हीं दो बड़े राज्यों तक सीमित नहीं रहे। प्रायद्वीप के छोटे राज्यों को भी इन दलों में सम्मिलित होकर लड़ना पड़ा। पूर्वी समुद्रतट पर उड़ीसा, आंध्र और मदुरइ आदि बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। इन राज्यों पर लगातार बहमनी या विजयनगर के शासक आक्रमण करते रहे। अतः इन राज्यों को बहुत हानि उठानी पड़ी। विजयनगर ने सन् 1370 ई० में मदुरइ को जीत लिया। पश्चिमी किनारे पर भी विजयनगर क्रियाशील रहा। रेवातिद्वीप (आधुनिक गोआ) एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। उस पर भी अधिकार कर लिया गया। इस बीच बहमनी राज्य अपने उत्तरी पड़ोसी राज्यों—मालवा और गुजरात से युद्ध करने में लगा हुआ था।

इस विशाल देश के ये सभी राज्य बड़े शक्तिशाली बन गए क्योंकि इनके धन प्राप्त करने के दो साधन थे। पहला साधन तो भूमि का लगान था। जौनपुर जैसे उपजाऊ क्षेत्र में इस साधन से बहुत बड़ी मात्रा में धन प्राप्त होता था। दूसरा साधन व्यापार था। गुजरात और बंगाल को अपने समुद्र पार के देशों से व्यापार में बड़ा लाभ होता था। वे पश्चिमी एशिया, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों और चीन के साथ व्यापार करते थे। बहमनी और विजयनगर के राज्य भी इस व्यापार में भाग लेते थे। राजस्थान और मालवा इस विशाल देश के आंतरिक व्यापार से वैभवशाली बन गए थे। व्यापार का माल

हम्पी का हाथीघर
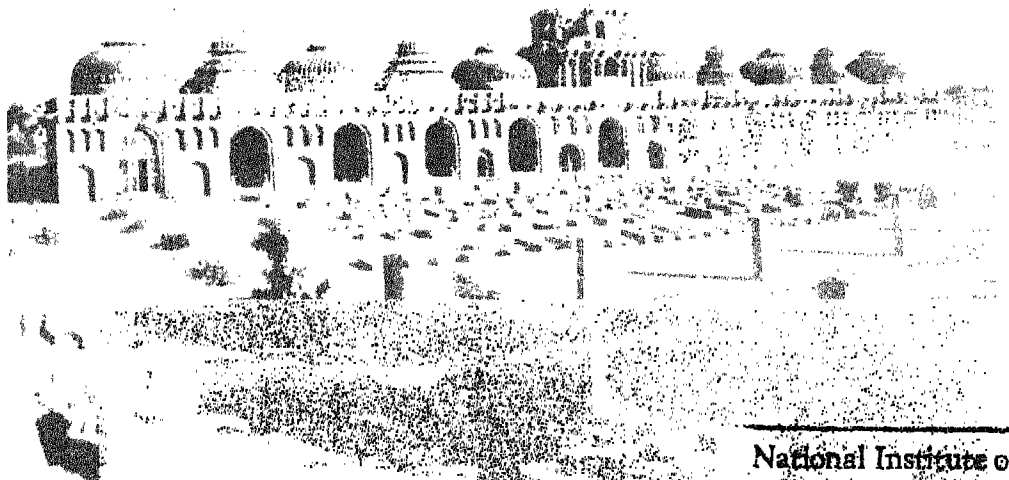
देश के विभिन्न भागों मे ले जाया जाता था। अतः व्यापारी प्रायः इन क्षेत्रों में यात्राएँ किया करते थे। राजनीतिक द्रष्टि से ये राज्य उतने शक्तिशाली नहीं थे जितने दिल्ली सल्तनत के, पर इन्हीं क्षेत्रों में आरंभिक संस्कृति का विकास हुआ। उसको परिपक्वता प्राप्त हुई। इन्हीं रा में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य, वास्तुक चित्रकला और नवीन धार्मिक विचारों विकास हुआ।

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **सिजदा**—सलाम करने का एक तरीका जिसे करने वाले व्यक्ति को घुटनों के बल झुककर अपने मस्तक से भूमि को छूना पड़ता था।
2. **उलेमा**—('आलिम' शब्द का बहुवचन), इस्लाम धर्म के विद्वज्जन जो अपने दृष्टिकोण में बड़े परंपरावादी थे।
3. **इक्ता**—किसी भूमि भाग या गाँव के लगान का अनुदान।
4. **पटवारी**—स्थानीय कागजात को सँभालने वाला कर्मचारी।
5. **वजीर**—सुल्तान का सलाहाकार (मुख्य मंत्री)।

II. निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति कोष्ठकों में दिए हुए सही शब्द या शब्द समूहों से करो:

1. ....बलबन ने भी उन्हीं समस्याओं का सामना किया जो................के सामने थीं परंतु वह उन समस्याओं के समाधान में अधिक सफल रहा। (कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन, काकती, यादव)।
2. दिल्ली सल्तनत के आरंभिक शासक................थे। (अफगान, तुर्क, मंगोल)।
3. ....ने दक्षिण की ओर मलिक काफूर के नेतृत्व में एक सेना भेजी। (बलबन, रजिया, उलाउद्दीन)।
4. उत्तर अफ्रीका के अरब यात्री................ने................के शासन काल के भारत और उसके निवासियों के जीवन का विस्तार के साथ वर्णन किया है। (होयसल, काकतीय, चंगेजखाँ, इब्नबतूता, कुतुबुद्दीन, अलाउद्दीन, मुहम्मद बिन तुगलक)।
5. बहमनी राज्य का क्षेत्र................में कृष्णा नदी तक था। (विजयनगर, हस्तिनावती, बहमनी, पूर्वी दक्षिण, सुदूर दक्षिण, उत्तरी दक्षिण)।

III. नीचे दिए हुए कथन में कौन-से सही हैं? प्रत्येक कथन के सामने 'हाँ' अथवा 'नहीं' में उत्तर दो:

1. बलबन एक शक्तिशाली और दृढ़ निश्चय वाला शासक था।

2. अलाउद्दीन खिलजी के हाथ से सुदूर दक्षिण के राज्य निकल गए और दक्षिण के उत्तरी भाग में उसका नाम मात्र का अधिकार रह गया।
3. गुलाम वंश के शासकों के बाद सन् 1290ई० में दिल्ली में तुगलक वंश का नया राज्य स्थापित हुआ।
4. खिलजी वंश का अंतिम शासक मार डाला गया और दिल्ली पर सैयद वंश नामक एक नए शासन का आरंभ हुआ।
5. मुहम्मद बिन तुगलक ने पीतल और ताँबें के ऐसे सांकेतिक सिक्के चलाए जिनको राजकोष से चाँदी के सिक्कों से बदला जा सकता था।
6. अलाउद्दीन के एक अधिकारी हसन गंगू ने बहमनी राज्य की नींव डाली।

IV. नीचे लिखे हुए प्रश्नों का उत्तर दो:

1. बलबन कौन था? सुल्तान राज्य का संगठन करने के लिए उसको किन समस्याओं का सामना करना पड़ा?
2. मुहम्मद तुगलक के बहुत-से विचार बुद्धिमत्तापूर्ण थे किन्तु उनको सफलता के साथ [illegible] न किया जा सका। ऐसा क्यों?
3. अलाउद्दीन दूसरा विश्व-विजेता सिकंदर बनना चाहता था। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए उसने कौन-से कदम उठाए? उसको कहाँ तक सफलता मिली?
4. दिल्ली सल्तनत के प्रशासन को किस प्रकार व्यवस्थित किया गया?
5. इक्ता प्रणाली से तुम क्या समझते है?

V. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. सल्तनत के कमजोर हो जाने पर इस देश के विभिन्न भागों में बहुत-से नवीन राज्यों का उदय हुआ। इन नए राज्यों की एक सूची बनाओ और भारत के मानचित्र में उन्हें दिखलाओ।
2. एशिया के मानचित्र में तैमूरलंग के दिल्ली पहुँचने के मार्ग का प्रदर्शन करो।

अध्याय 5

जनता का जीवन

जब कोई विदेशी जाति किसी देश को जीत कर उस देश में बस जाती है तो उसके साथ जीवन के नए आदर्श और नए तौर-तरीके भी आ जाते हैं। ये आदर्श पराजित देश की सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित करते हैं। किन्तु कभी-कभी इसका उलटा भी होता है। पराजित देश की संस्कृति विजेता जाति के जीवन के तौर-तरीकों को प्रभावित करती हैं। तुर्कों और अफगानों की विजय के साथ भी ये दोनों बातें हुईं। उन्होंने अपने जीवन को ईरान के सम्राटों के आदर्शों में ढाला था। वे अपने साथ ईरान और मध्य एशिया से वहाँ की संस्कृति और विचार लाए और जब वे भारत में बस गए तब भारतीय जीवन के रीति-रिवाज उनके विचारों और व्यवहारों को प्रभावित करने लगे। साथ ही तुर्कों और अफगानों के आने से भारतीय समाज में भी बहुत-से परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिफलित होते रहे। कुछ ही समय में कुछ रीति-रिवाजों की एक निश्चित एकरूपता सामान्य जनता के जीवन में दिखलाई देने लगी।

सल्तनत के युग में भारतीय समाज चा प्रमुख वर्गों में विभाजित था। अभिजात व और पुरोहित वर्ग को समाज में उच्चत स्थान प्राप्त था, साधारण नगर निवा और किसान अन्य वर्गों के थे।

अभिजात

अभिजात वर्ग शासन करने वालों क वर्ग था और इसके अंतर्गत सुल्तान सरदा हिन्दू राजे और जमींदार होते थे। दिल्ली राज दरबार में सुल्तान बड़ी शान-शौक से रहता था। जब कोई नया सुल्तान दिल के सिंहासन पर बैठता था तब शुक्रवार क नमाज में उसके नाम का खुतबा पढ़ा जा था और उसके नाम खुदे हुए सिक्के टकसा से जारी किए जाते थे। इस प्रकार न शासक के सिंहासन पर बैठने की पुष्टि क जाती थी। सुल्तान एक विशिष्ट व्यि होता था। प्रतिदिन उसके विशेष गुणों क प्रमुख रूप से व्यक्त करने के लिए उस दरबार के कार्यों को विधिवत् संपादि किया जाता था। उसके राजमहल के प्रबं

के लिए बहुत से अधिकारी और कर्मचारी होते थे। उसके कार्य करने के लिए उसके बहुत से गुलाम होते थे। सुल्तान का अनुसरण करते हुए अन्य सरदार भी विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे।

पुरोहित वर्ग

ब्राह्मण और उलेमा जैसे पुरोहित और धर्मशिक्षक भी समाज के महत्त्वपूर्ण अंग थे। विशेषकर जो शासकों के सलाहकार थे उनका तो जनता पर अत्यधिक प्रभाव था। उनमें से कुछ बहुत धनवान थे और उनको भूमि का अनुदान मिला हुआ था। सुल्तान प्रमुख ब्राह्मणों का बड़ा आदर करता था और उनको भूमि का अनुदान देता था। इन ब्राह्मणों और उलेमा में बहुत से ऐसे थे जो देहाती क्षेत्रों में बस गए थे। इस प्रकार ये दोनों ही हिन्दू और इस्लामी संस्कृतियों के प्रचार में सहायता देते थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो इन हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों के व्यवहार से संतुष्ट नहीं थे। जन-साधारण का अनुभव था कि ये पुरोहित धर्म में पर्याप्त रुचि नहीं रखते थे बल्कि उनकी सांस्कृतिक कार्यों में अधिक रुचि थी।

नगर निवासी

इस काल में बहुत से नगरों में व्यापार की बड़ी उन्नति हुई। नगरों में रहने वाले लोग प्रायः व्यापारी, दुकानदार, शिल्पकार तथा कुछ सरदार और अधिकारी होते थे। अधिकतर नगर व्यापार के केन्द्र होते थे। कुछ नगर प्रशासन और सेना के केन्द्र भी थे और इनमें अधिक संख्या में अधिकारी और सैनिक रहते थे। कुछ नगर तीर्थ स्थान थे जिनमें बहुत बड़ी संख्या में पुरोहितों और यात्रियों की भीड़ लगी रहती थी।

शिल्पकार अपने शिल्प के अनुसार नगर के किसी विशेष भाग में रहते थे। उदाहरण के लिए नगर के एक भाग में जुलाहे रहते थे। पीतल के बर्तन बनाने वाले ठठेरे दूसरे भाग में रहते थे। सुनारों की बस्ती एक अलग क्षेत्र में थी। इसी प्रकार अन्य शिल्पकार भी नगर में बसे हुए थे। आज भी बहुत से नगरों और कस्बों में हमको मुहल्लों के नाम उन शिल्पकारों के नाम पर मिलते हैं जो किसी समय उन मुहल्लों में रहते थे। सरदारों और उनके परिवारों को कीमती रेशम और ज़री के कपड़े जैसी विलासिता की और बर्तन आदि प्रतिदिन की वस्तुओं की आवश्यकता रहती थी। वे शिल्पकार उनकी इस माँग की पूर्ति करते थे। शिल्पकार ऐसी वस्तुओं को भी बनाते थे जो देश के विभिन्न भागों को और विदेशों को भी भेजी जाती थीं और जिन पर उस काल का व्यापार आधारित था। सुल्तान विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखानों में सैकड़ों गुलामों को नौकर रखते थे।

व्यापार

प्रत्येक नगर में हाट या बाजार होता था जहाँ व्यापारी वस्तुओं को खरीदने और बेचने के लिए एकत्र होते थे। अक्सर बड़े-बड़े मेले लगा करते थे। समाज के

कुछ ऐसे समुदाय भी थे जो विशेष रूप से व्यापार ही करते थे। बनिए और मुल्तानी लोग व्यापार में बड़ी रुचि लेते थे और वे सारे देश में यात्रा करते थे। वे लोग दक्षिण में मलाबार तक पहुँचते थे। **बंजारों** के पास बड़े-बड़े काफिले रहते थे और वे वस्तुओं को एक बाजार से दूसरे बाजार तक पहुँचाया करते थे।

इब्नबतूता ने दिल्ली का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसने जितने नगर अपनी यात्रा में देखे उनमें दिल्ली सबसे अधिक सुंदर नगर था। देश के सब भागों से दिल्ली नगर में सामान आता था। पूर्व से चावल, कन्नौज से चीनी, दोआब से गेहूँ और दक्षिण भारत से बहुमूल्य रेशम आता था। सूती कपड़े, धातु के बर्तन, बहुमूल्य रत्नों, आभूषणों और हाथी दाँत की वस्तुओं आदि का तो कुछ कहना ही नहीं। अरब, पूर्वी अफ्रीका, श्रीविजय और चीन से भी बहुत-सा सामान आता था। चीन के साथ व्यापार का मुख्य केन्द्र बंगाल था। पंद्रहवीं शताब्दी में चीन के बहुत से व्यापारी और मिशन बंगाल आए और उनके लिखे बंगाल के बहुत-से वर्णन मिलते हैं जिनसे वहाँ के जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

व्यापार की उन्नति से धन का प्रयोग अधिक होने लगा। टकसालों में बहुत बड़ी संख्या में सिक्के ढाल कर चलाए गए। चाँदी के सिक्के **टंका** का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता था। सुल्तान इल्तुतमिश ने इस सिक्के को जारी किया था। इसी सिक्के के आधार पर बाद में चाँदी का रुपया चलाया गया। इस समय के तोले के बाँटों का प्रयोग आधुनिक काल में मीट्रिक प्रणाली के अपनाए जाने के पहले तक जारी रहा।

किसान

गाँवों में किसानों का जीवन बहुत कुछ पहले जैसा ही रहा। तुर्कों और अफगानों के इस देश में आने से होने वाले परिवर्तन उच्चवर्ग तक ही सीमित रहे। किसानों के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

जाति प्रणाली इस काल के समाज की प्रमुख विशेषता बनी रही। जिन हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया गया था वे प्रायः अपनी पहले की जाति का स्मरण करते रहे और उनके विवाह के रीति रिवाज पहले की भाँति ही चलते रहे। सरदारों में भी तुर्क, अफगान और उन हिन्दुओं में जो मुसलमान बना लिए गए थे परस्पर विवाह-संबंध होते रहे। इसलिए रीति-रिवाजों और विचारों का आदान-प्रदान स्वाभाविक था। मुसलमानों के बहुत से रीति-रिवाज हिन्दू जीवन के अंग बन गए और हिन्दुओं के बहुत से रीति-रिवाज मुसलमानों के जीवन में दिखलाई देने लगे।

धर्म

भारत में इस्लाम धर्म के आ जाने के अनेक परिणाम हुए। इसका एक सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह था कि हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर एक दूसरे के बहुत से धार्मिक विचार अपना लिए। इससे

दो प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ—एक सूफी आंदोलन और दूसरी भक्ति आंदोलन—बड़ी लोकप्रिय बन गईं।

सूफी

ग्यारहवीं शताब्दी में फारस और अन्य देशों से आने वाले मुसलमानों में **सूफी** संप्रदाय के कुछ संत भी थे। वे भारत के विभिन्न भागों में बस गए और बहुत से भारतीय उनके अनुयायी बन गए। सूफियों ने ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए प्रेमसाधना और भक्ति का उपदेश दिया। उनका कहना था कि यदि व्यक्ति के हृदय में भगवान के प्रति सच्चा प्रेम भाव है तो वह भगवान और अपने साथी मनुष्यों के अधिक निकट आ जाता है। ये सूफी संत ईश्वर के सच्चे प्रेम के सामने प्रार्थना, उपवास और पूजापाठ को अधिक महत्त्व नहीं देते थे। ईश्वर के प्रेम के महत्त्व के कारण उनका दृष्टिकोण अन्य धर्मों और संप्रदायों के प्रति उदार था और उनका विश्वास था कि ईश्वर के निकट पहुँचने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। वे मनुष्य मात्र के आदर पर अधिक बल देते थे। सूफियों के इस दृष्टिकोण से परंपरावादी उलेमा सहमत नहीं थे क्योंकि उनका कहना था कि सूफियों के कुछ सिद्धान्त प्राचीन परंपरागत इस्लाम धर्म से मेल नहीं खाते। बहुत से हिन्दू भी सूफी संतों का आदर-सम्मान करते थे। सूफियों का विश्वास था कि लोगों को पीरों के उपदेशों को मानना चाहिए। उनका **पीर** हिन्दुओं के गुरु के समान था। पास-पड़ोस के नगरों और गाँवों से लोग पीरों के उपदेश सुनने आते थे। सूफी संतों ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उन्हें एक सच्चे ईश्वर से प्रेम करके अच्छा हिन्दू बनने का उपदेश दिया।

मुईनुद्दीन चिश्ती अपने समय के एक प्रसिद्ध सूफी महात्मा थे। वे बहुत समय

अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का मजार
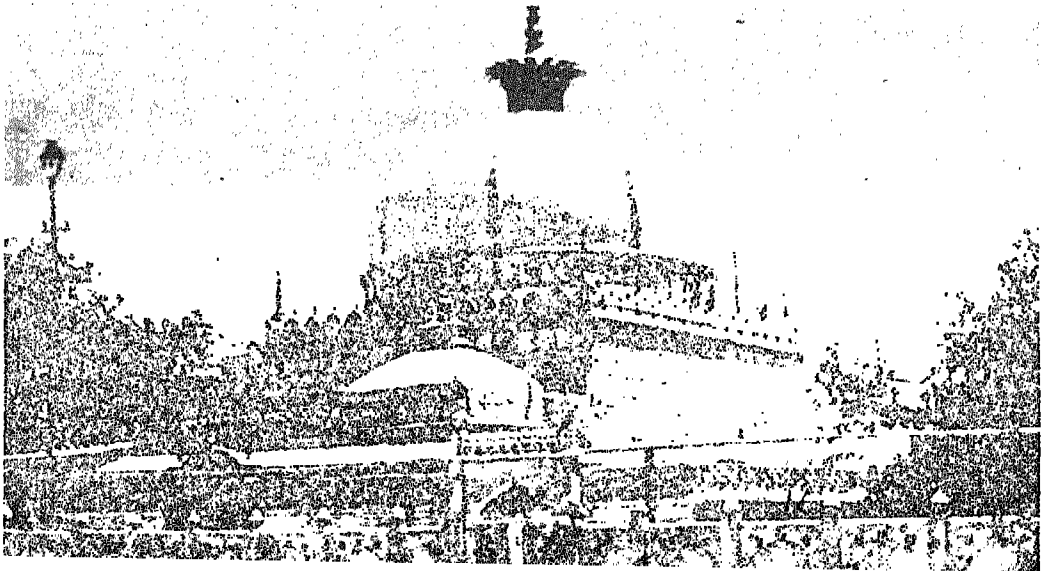
तक अजमेर में रहे। वहीं सन् 1236 ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनका विश्वास था कि भक्ति-संगीत भी ईश्वर के निकट पहुँचने का एक रास्ता है। यदि संगीत सुंदर ढंग से गाया-बजाया गया हो तो उससे उतना ही आनंद प्राप्त होता है जितना कि ईश्वर के सम्मुख उपस्थित होने से। उलेमा संगीत को धर्म से संबंधित करने के सिद्धांत को नहीं मानते थे। चिश्ती के अनुयायी धर्म सभाएँ (महफिल) करते थे जिनमें उच्चकोटि का संगीत सुना जा सकता था। इस सभाओं में होने वाले संगीत का परिचित रूप कव्वाली था। हिन्दी में गाए जाने वाले गीत भी बड़े लोकप्रिय थे।

दूसरे प्रसिद्ध सूफी महात्मा बाबा फरीद थे। वे अजोधन या पाकपाटन के रहने वाले थे जो अब पाकिस्तान में है। अन्य सूफी महात्मा भारत के दूसरे भागों में रहते थे। सैयद मुहम्मद गेसूदराज गुलबर्ग में , शाह आलम बुखारी गुजरात में, बहाउद्दीन जकरिया मुल्तान में और शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी सिलहट में रहते थे। दिल्ली के पड़ोस में निजामुद्दीन औलिया रहते थे जिनको सुल्तान और जनता दोनों का सम्मान प्राप्त था। वे ईमानदार और साहसी व्यक्ति थे और स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करते थे। यदि वे सुल्तान के किसी कार्य को पसंद नहीं करते तो स्पष्ट कह देते और अन्य व्यक्तियों की भाँति डरते नहीं थे।

भक्ति आंदोलन

केवल सूफी ही उस काल के लोकप्रिय धर्म-प्रचारक नहीं थे। भक्ति आंदोलन के चलाने वाले और संत भी थे। उनका भारत में अपना प्राचीन इतिहास था। तमिल देश के भक्ति संप्रदाय के चलाने वाले आलवार नयन्नार संतों ने कहानियों और गीतों के द्वारा भक्ति भावना की परंपरा को प्रारंभ किया था। नगरों में व्यापारियों और शिल्पकारों तथा गाँवों में किसानों के बीच यह आंदोलन बहुत लोकप्रिय हुआ। भक्ति आंदोलन में इसी प्रकार के उपदेश जारी रहे। इस आंदोलन के समर्थक अधिकांश संत-महात्मा अब्राह्मण थे। भक्ति मार्ग के उपदेशकों ने बतलाया कि मनुष्य और ईश्वर का संबंध प्रेमभाव पर आधारित है और धार्मिक कर्मकांडों के करने की अपेक्षा भक्तिभाव से ईश्वर की उपासना करना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। मनुष्यों और धर्मों में उन्होंने सहिष्णुता की भावना पर अधिक बल दिया।

चैतन्य एक धर्मोपदेशक थे जिन्होंने बंगाल में धर्म का उपदेश दिया। वे कृष्ण के भक्त हो गए और उन्होंने कृष्ण-लीला के बहुत से पदों की रचना की। वे जनता के एक समूह को एकत्र करके भक्ति का उपदेश देते थे और उन्हें अपने भक्ति-पद सिखाते थे। उन्होंने देश के विभिन्न भागों की यात्रा की और फिर उड़ीसा प्रांत में पुरी में रहने लगे। ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने गीता को फिर से मराठी भाषा में लिखा जिससे जो लोग संस्कृत के विद्वान नहीं थे वे भी उसे समझ सकें। उनसे अधिक लोकप्रिय नामदेव और कुछ समय पश्चात् तुकाराम हुए।

दोनों ही प्रेम के माध्यम से ईश्वर के प्रति भक्ति का उपदेश देते रहे।

बनारस में कबीर, जो एक जुलाहे थे, रहते थे। वे भी एक भक्त महात्मा थे। उनके लिखे हुए **दोहे** जिनके द्वारा वे अपने शिष्यों को उपदेश देते थे, आज तक पढ़े जाते हैं। कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि धर्मों का अंतर कोई महत्त्व नहीं रखता। महत्त्व इस बात का है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम भाव रखे। ईश्वर के अनेक नाम हैं। कोई उसको राम कहता है कोई रहीम। कोई उसको हरि कहता है कोई अल्लाह। लोग व्यर्थ ही उसके नामों के ऊपर झगड़ा करते हैं। कबीर के शिष्यों ने कबीर-पंथ के नाम से अपना अलग संप्रदाय बनाया। बाद में सूरदास और दादू ने इस भक्ति मार्ग की परंपरा को कायम रखा।

गुरु नानक अपने शिष्यों के साथ
(एक पुराने चित्र के आधार पर)

नानक एक अन्य धर्मोपदेशक थे, जिनका महत्त्व कबीर से कम नहीं हैं। उन्होंने सिक्ख धर्म की स्थापना की। उनके अनुयायी कुछ शताब्दियों के बाद उत्तर भारत में बहुत शक्तिशाली हो गए। सिक्खों के कथनानुसार नानक एक गाँव के लेखाकार के पुत्र थे और पंजाब में रहते थे। नानक के बहनोई ने उन्हें स्थानीय प्रशासक दौलत खां लोदी के कार्यालय में नौकरी दिलवाने में मदद की। पर नानक को इस काम में कोई रुचि नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी और फकीरों और सूफी संतों के साथ कुछ समय बिताया। उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया और अंत में अपने गाँव लौटकर शिष्यों के एक समुदाय को उपदेश दिया। पदों में दिए गए उनके उपदेशों को एक पुस्तक में एकत्र किया गया जिनको **आदिग्रन्थ** कहा जाता है। नानक ने भी यही उपदेश दिया कि ईश्वर के निकट केवल प्रेम करके ही पहुँचा जा सकता है। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कहा कि सब मनुष्य बराबर हैं अतः जाति के कारण कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। उन्होंने अपने

शिष्यों को विशेष बल देकर कहा कि उन्हें एक सार्वजनिक भोजनालय, लंगर में भोजन करने के लिए तैयार रहना चाहिए जिसमें सभी जाति के लोग भोजन कर सकें। उन्होंने अपने शिष्यों का संगठन किया और अपनी मृत्यु के समय उनका नेतृत्व करने के लिए एक गुरु नियुक्त किया। उनके अनुयायी आगे चलकर अपने को 'खालसा' कहने लगे जिसका अर्थ है शुद्ध। सत्रहवीं शताब्दी में खालसा लोगों का एक शक्तिशाली सैनिक दल बन गया। तब सिक्खों ने अपने को अन्य लोगों से इन पाँच विशेषताओं के द्वारा अलग कर लिया–केश, कंघा, कड़ा, कृपाण और कच्छा। ये विशेषताएँ सामान्य रूप से 'पंच ककार' या 'पाँच कक्के' कहलाती हैं।

भक्ति आंदोलन एक धार्मिक आंदोलन मात्र ही नहीं था बल्कि उसका प्रभाव समाज के विचारों पर भी पड़ा। आरंभ के भक्ति सम्प्रदाय के संतों, जैसे तमिल देश के भक्त संतों और बंगाल के चैतन्य जैसे महात्मा ने मुख्य रूप से धर्म भावना से ही अपना संबंध रखा परंतु कबीर और विशेष रूप से नानक ने इस पर भी विचार किया कि समाज का संगठन किस प्रकार किया जाना चाहिए। उन्होंने समाज को जातियों में विभाजित किए जाने का विरोध किया। उन्होंने समाज में नारी को दिए गए निम्न स्थान को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के अनेक कार्यों में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया। जब कबीर और नानक के शिष्य एकत्र होते तो उस समुदाय में स्त्रियों को भी सम्मिलित किया जाता था। मीराबाई ने भक्ति भावना से ओतप्रोत कुछ श्रेष्ठ पदों की रचना की। वे राजस्थान के एक राजवंश की थीं। उन्होंने अपने वैभव और विलास के जीवन का परित्याग कर दिया और कृष्ण की भक्त हो गईं।

भाषा और साहित्य

सारे देश के भक्त संतों ने क्षेत्रीय भाषाओं में उपदेश दिए जिससे कि साधारण लोग भी उनके उपदेशों को समझ सकें। सर्वसाधारण के बीच में जो भाषाएँ बोली जाती थीं वे हमारी वर्तमान भारतीय भाषाओं से बहुत मिलती-जुलती थीं। वास्तव में इन आरंभिक रूपों से ही हमारी वर्तमान भाषाओं का विकास हुआ। हिन्दी के दो रूपों–ब्रज और अवधी का प्रयोग किया जाता था। उत्तर में पंजाबी, पश्चिम में गुजराती, पूर्व में बँगला, उत्तरी-पश्चिमी दक्षिण में मराठी, मैसूर के आसपास के क्षेत्र में कन्नड़ और आंध्र प्रदेश में तेलुगु भाषाओं का विकास हो रहा था। आंध्र प्रदेश के दक्षिण के क्षेत्र में तो तमिल कई शताब्दियों से बोली जा रही थी। इसी समय के आसपास उड़ीसा में उड़िया, आसाम में असमिया, सिन्ध में सिन्धी और केरल में मलयालम भाषाओं का विकास आरंभ हुआ। इनमें से कुछ भाषाएँ अपभ्रंश और प्राकृत भाषाओं से विकसित हुईं।

देश के बहुत से भागों मे इस काल में फारसी राजभाषा रही। अतः बहुत-सी
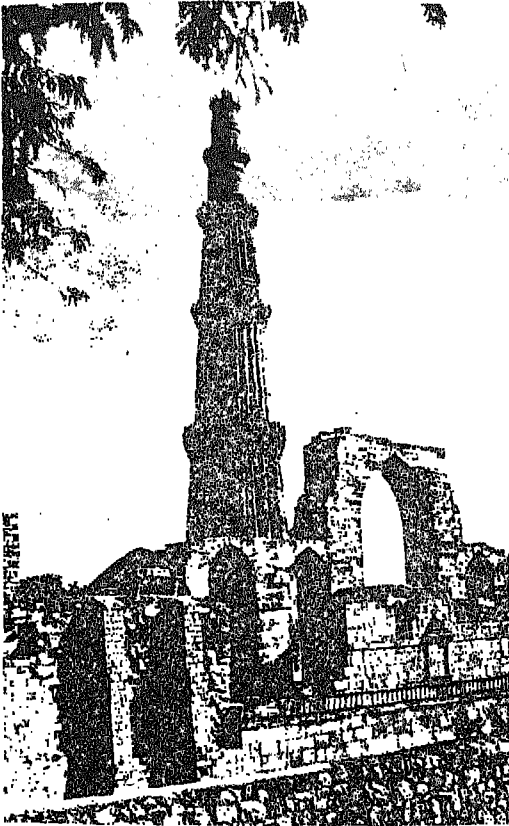
कुतुब मीनार और एक पुरानी मस्जिद के खंडहर

भारतीय भाषाओं पर फारसी का प्रभाव पड़ा और फारसी के बहुत से शब्द भारतीय भाषाओं में आ गए। हिन्दी और फारसी के सम्मिश्रण से एक नई भाषा उर्दू बनी। 'उर्दू' का शाब्दिक अर्थ है 'शिविर'। विभिन्न मातृभाषाओं वाले सैनिक पारस्परिक वार्तालाप के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे उसे उर्दू कहने लगे। उर्दू का व्याकरण हिन्दी व्याकरण के समान ही था पर उसके शब्द फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं से लिए गए थे। दक्षिण भारत में बोली जाने वाली उर्दू पर तमिल और मराठी भाषाओं का बड़ा प्रभाव था। धीरे-धीरे उर्दू भाषा का प्रयोग सामान्य रूप से नगरों में बहुत होने लगा। पश्चिमी समुद्र तट पर पश्चिमी एशिया के व्यापारी अरबी भाषा का प्रयोग करते थे। अरबी भाषा का प्रभाव भी भारत की उन स्थानीय भाषाओं पर पड़ा।

सीमित संख्या में कुछ विद्वान संस्कृत भाषा का भी प्रयोग करते थे। शैव और वैष्णव संप्रदाय के धार्मिक कर्मकांडों के अवसर पर तथा कुछ हिन्दू राज्यों जैसे विजयनगर के उत्सवों के अवसर पर राज दरबारों में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता था। यह भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम थी। संस्कृत भाषा का बहुत-सा लोकप्रिय साहित्य जैसे पुराण, रामायण और महाभारत अब क्षेत्रीय भाषाओं में भी अनुवाद के रूप में उपलब्ध था। तमिल में कंबन और तेलुगु में पोथन के साहित्य को वे लोग पढ़ने लगे जो संस्कृत भाषा समझ सकते थे। संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद अब केवल भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि फारसी और अरबी में भी मिलने लगे।

इस काल के साहित्य में केवल संस्कृत के ग्रंथों के अनुवाद ही नहीं मिलते बल्कि इस काल में बहुत-से कवि और लेखक ऐसे भी हुए जिन्होंने विभिन्न भाषाओं में अनेक मौलिक ग्रंथों जैसे महाकाव्यों, गीत काव्यों

मलिक मोहम्मद जायसी
(एक पुराने चित्र के आधार पर)

और नाटकों की रचना की। तेलुगू के कवि श्रीनाथ ने शिव के सम्मान में 'हरविलास' जैसी अनेक कविताओं की रचना की। मलिक मुहम्मद जायसी ने हिन्दी भाषा में 'पद्मावत' नाम का प्रसिद्ध महाकाव्य लिखा। इसी प्रकार विद्यापति के मैथिली भाषा में लिखे पद भी बहुत प्रसिद्ध हुए। कुछ कवियों और लेखकों की रचनाओं पर फारसी के साहित्य का प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए अमीर खुसरो ने अपना बहुत-सा साहित्य फारसी भाषा में लिखा पर उसके साहित्य के विषय भारतीय हैं और उनमें खुसरो ने भारत के प्रति अपना प्रेम और अपने भारतीय होने का गर्व प्रकट किया है।

वास्तुकला

फारस और मध्य एशिया से तुर्क और अफगान अपने साथ वास्तुकला की नई शैलियाँ और तकनीक भी लाए। इन शैलियों का प्राचीन भारतीय शैलियों से सम्मिश्रण हुआ और वास्तुकला के नवीन रूपों का विकास हुआ। इस काल की वास्तुकला की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ नुकीले महराब और गुंबद थे। इनको इस काल में बहुत अधिक प्रयोग किया जाने लगा। नुकीले महराब को सँभालने के लिए किसी धरन का प्रयोग नहीं किया जाता था बल्कि पत्थरों को तिरछा सटाकर महराब की नोक बनाई जाती थी। गुंबद अर्ध-वृत्ताकार खोखली छत से ढका हुआ विस्तृत क्षेत्र होता था। ये दोनों रूप उच्च गणित और इंजीनियरिंग के कौशल पर आधारित थे। तुर्कों के आने के पूर्व भारतीय वास्तुकला में इस प्रकार के ज्ञान और कौशल के अधिक प्रयोग नहीं किए गए यद्यपि भारतीय शिल्पकार नुकीले महराबों को बनाना जानते थे। इसी कारण आरंभिक भवनों में केवल शिखरों और मीनारों के अतिरिक्त गुंबद नहीं होते थे। महराब भी दो सीधे खंभों पर एक धरन रख कर बनाई जाती थी। नई शैलियों के आ जाने पर मस्जिदों, राजमहलों, मकबरों और कुछ समय बाद निजी घरों के निर्माण में नुकीले महराब और गुंबद दोनों ही का प्रचुरता से प्रयोग
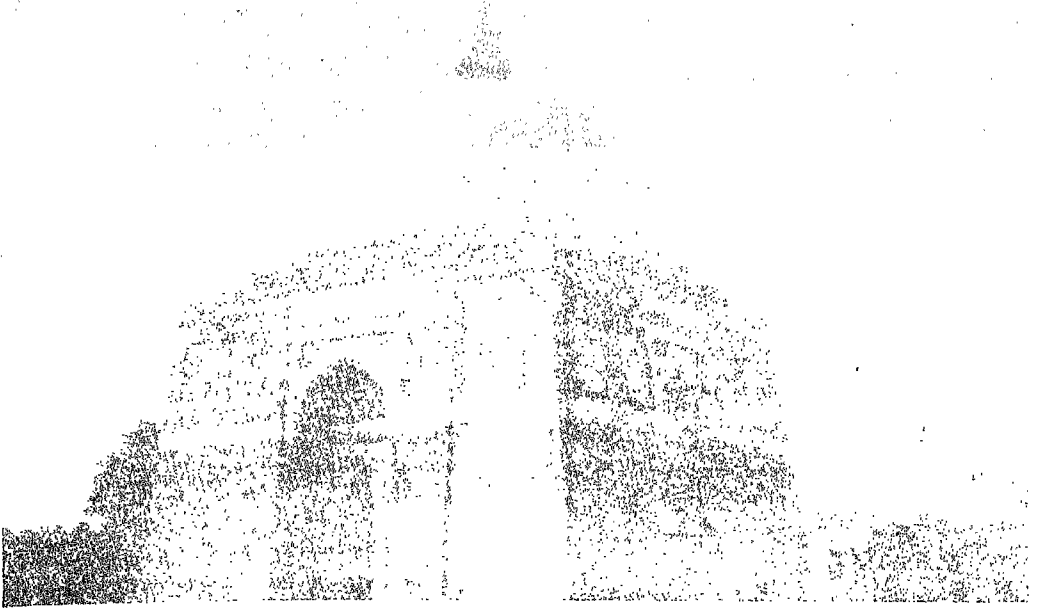
दिल्ली में गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा

किया जाने लगा। उँची सँकरी मीनारों का निर्माण इस काल की दूसरी शैली थी जिसका प्रयोग बहुधा इमारतों के निर्माण में किया गया था।

इन इमारतों का रूप और आकार फारस और मध्य एशिया की इमारतों से मिलता-जुलता था किन्तु उनकी सजावट भारतीय थी क्योंकि भारतीय कारीगर उनको बनाते थे। वास्तुकला की दो शैलियों के एक दूसरे के संपर्क में आने से कुछ बहुत सुंदर इमारतों का निर्माण किया गया। मामलूक सुल्तानों के शासन काल में बनी दिल्ली की कुतुब मीनार तथा उसके निकट की मस्जिद इन इमारतों में से सबसे पहले की हैं। दिल्ली के सुल्तान बड़ी शानशौकत से रहते थे और अपने रहने के लिए बड़े सुंदर राजमहल बनवाते थे। फीरोजशाह का दुर्ग फीरोजशाह कोटला इन सुंदर इमारतों का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार का तुगलकाबाद का किला भी है। प्राचीन समय में दिल्ली में बने लोदी सुल्तानों के मकबरे और भी अधिक सुंदर रहे होंगे। उनके गुंबदों की बाहरी सतह रंग-बिरंगे खपरैलों की डिजाइनों से सजी हुई थी। इससे बैंगनी, नीले, हरे, पीले और गुलाबी आदि अनेक हल्के और गहरे रंगों की चमक उन इमारतों को प्राप्त होती थी।

ये नई इमारतें केवल दिल्ली में ही नहीं बनवाई गई थीं। भारत और फारस की शैलियों के सम्मिश्रण से इमारतों के निर्माण के अनेक नए प्रयोग हुए। प्रांतीय राजवंशों ने भी अपनी राजधानी और दुर्गों को सुंदर

इमारतों से सुशोभित किया। जौनपुर के शरकी के शासकों ने उस नगर में सुंदर

जौनपुर की अताला मस्जिद

मस्जिदें बनवाईं। गुजरात के शासक अहमदशाह ने अहमदाबाद का निर्माण कराया जो अपने समय के भारत के सर्वश्रेष्ठ नगरों में से एक था। मालवा के शासक ने मांडू की पहाड़ियों पर अपने सुंदर राजमहल बनवाए। इस क्षेत्र की प्रायः सभी इमारतें पत्थर की बनी हुई हैं क्योंकि इस क्षेत्र में पत्थर बड़ी आसानी से मिल जाता था। पर बंगाल में गौड़ और पांडुआ के राजमहलों के बनवाने में ईंटों का प्रयोग किया गया। सारे पूर्वी भारत में पत्थर आसानी से नहीं
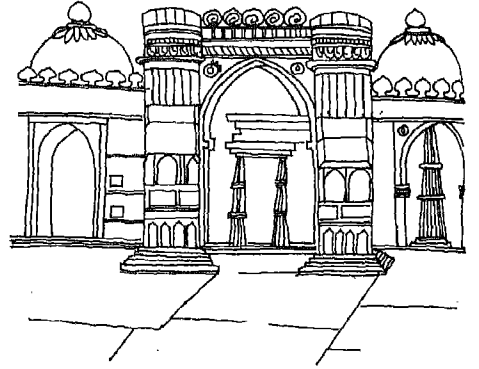
अहमदाबाद की जामा मस्जिद

जहाज महल, मांडू
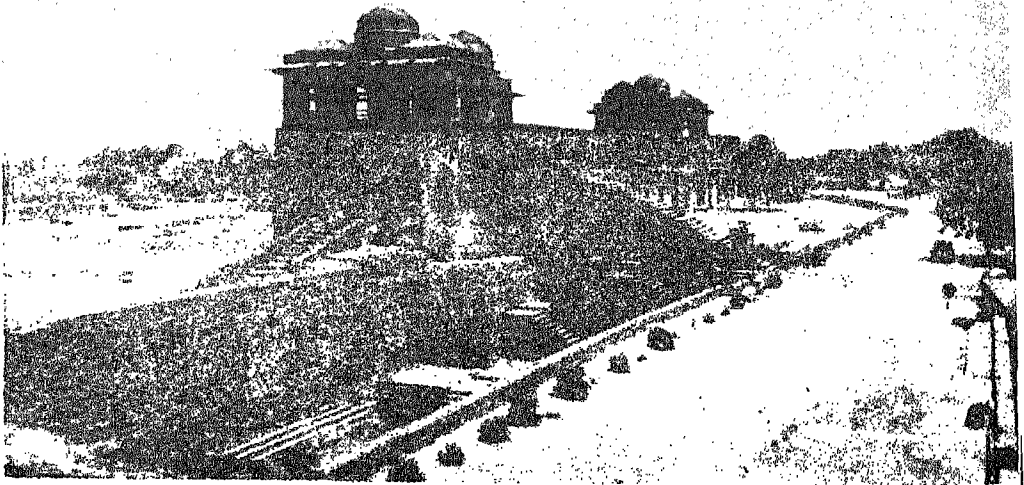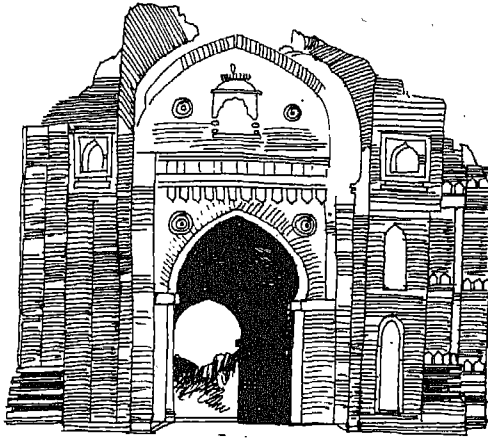
बंगाल में गौड़ स्थित दाखिल दरवाजा

प्राप्त होता। कश्मीर में भवन-निर्माण में मध्य एशिया की शैली अपनाई गई और वहाँ लकड़ी की इमारतें बनाई गईं। जहाँ कहीं व्यापार की उन्नति हुई और देश धनी हुआ, राजाओं और सरदारों ने नई इमारतें बनवाईं।

बहमनी राज्य के शासकों ने वास्तु-कला के क्षेत्र में दिल्ली के सुल्तानों के साथ प्रतिद्वंद्विता की। गुलबर्गा और बीदर की राजधानियाँ अपनी सुंदर इमारतों पर गर्व करती थीं। इनमें से कुछ के निर्माण में पुरानी शैली का अनुसरण हुआ। कुछ इमारतें जैसे गुलबर्गा की जामा मस्जिद और बीदर का मदरसा फारस की शैली में बनाए गए। बीजापुर का गोल गुंबद और बीजापुर के बादशाहों में से एक का मक़बरा इन इमारतों में संभवतः सबसे प्रसिद्ध इमारतें हैं। कहा जाता है कि इस इमारत का गुंबद संसार के सबसे बड़े गुंबदों में से एक है। दक्षिण के शासक अपने किलों के अन्दर भी शानदार इमारतें बनवाते थे। दौलताबाद और गोलकुंडा के किले इसके उदाहरण हैं।
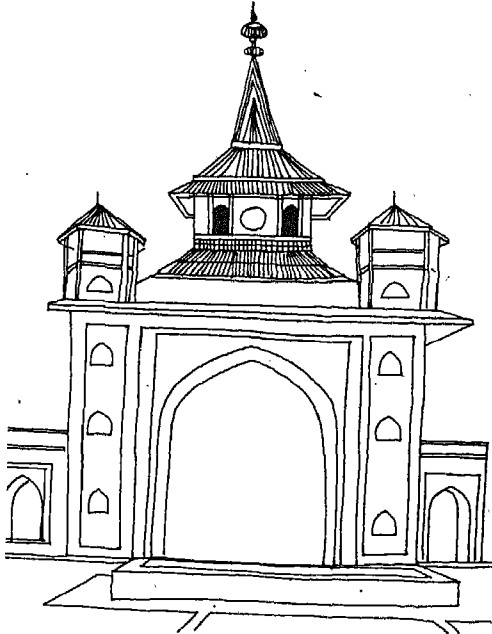
सुदूर दक्षिण में विजयनगर के शासकों ने मंदिरों के निर्माण के लिए बहुत-सा धन दिया। दूआर्ते बारबरोसा, नुनेज तथा पेइस जैसे विदेशी व्यापारियों और यात्रियों ने हंपी नगर के ऐश्वर्य-वैभव का बड़े सुंदर शब्दों में वर्णन किया है। विजयनगर के राजाओं ने चोल राजाओं के बनवाए मंदिरों की मरम्मत और पुनर्निमाण में बहुत-सा धन व्यय

श्रीनगर की जामा मस्जिद

किया। विजयनगर काल के भवन-निर्माण का कार्य वहीं की इमारतों की सजावट और नक्काशी में देखा जा सकता है। मदुरइ के पांड्य वंश के शासकों के संबंध में भी यही सच है।

चित्रकला और संगीत

बारीक लघु चित्रों के बनाने की प्राचीन कला जारी रही। कलाकार इस काल में शासकों और दरबारियों की पुस्तकों को चित्रों से सजाने में लगे हुए थे। अतः वे राज्याश्रय में रहने लगे थे। कभी-कभी वे अपने आश्रय देने वाले राजाओं के चित्र बनाते थे और कभी-कभी केवल पुस्तकों की वर्णित घटनाओं का चित्रण करते थे।

नए रूपों के समावेश से संगीतकला की भी उन्नति हुई। फारस और अरब की संगीत शैलियों का प्रभाव उस काल में विकसित होने वाले भारत के संगीत पर पड़ा। सितार, सारंगी और तबला जैसे वाद्य यंत्र इस समय बड़े लोकप्रिय हो गए। कुछ सूफी संतों ने संगीत में विशेष रुचि दिखलाई। इससे संगीत के नवीन रूपों को लोकप्रिय होने में बड़ी सहायता मिली।

तुर्कों और अफगानों के आने से जीवन-यापन की शैलियों में बहुत से नए प्रयोग किए गए। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप नए धार्मिक आंदोलनों, भाषाओं तथा चित्रकला, वास्तुकला एवं संगीतकला की सुंदर नवीन शैलियों का विकास हुआ।

बीजापुर का गोल गुंबद
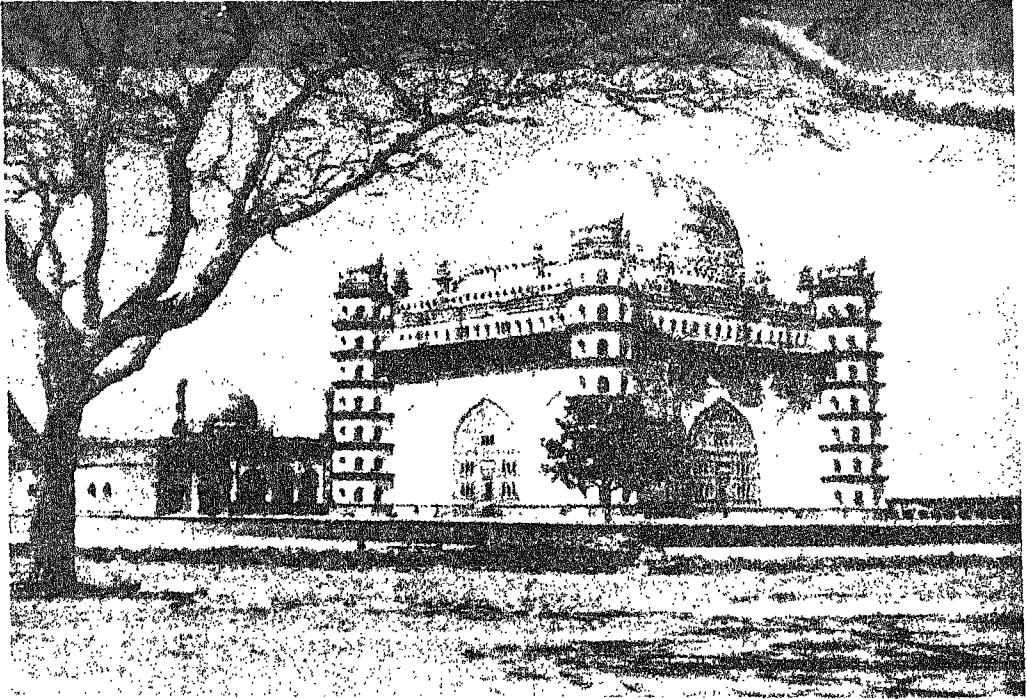
अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **खुतबा**—शुक्रवार की नमाज में बादशाह के नाम पर पढ़ी जाने वाली उद्-घोषणा।
2. **बंजारा**—व्यापारियों की एक जाति जिसके पास काफिले होते थे और जो सामान को एक बाजार से दूसरे बाजार ले जाते थे।
3. **सूफी**—ईश्वर की भक्ति-उपासना में व्यक्तिगत प्रेम भावना पर अधिक बल देने वाले मुसलमान संत।
4. **पीर**—सूफी संप्रदाय के धर्म-उपदेशक।
5. **दोहा**—दो पंक्तियों का एक छंद जिसमें कबीर, तुलसी आदि कवियों ने काव्य रचना की है।
6. **आदिग्रंथ**—सिक्खों का धार्मिक ग्रंथ जिसमें पदों के रूप में गुरु नानक के उपदेश एकत्र किए गए हैं।

II. स्तंभ 'अ' के कथन का स्तंभ 'आ' के कथन से संबंध स्थापित कीजिए:

अ	आ
(1) अभिजात वर्ग के अंतर्गत शासन करने वाले लोग और	(1) वास्तुकला की नई शैलियाँ लाए।
(2) ब्राह्मण, उलेमा, पुरोहित और धर्मोपदेशक	(2) और प्रायः मस्जिदें लकड़ी की बनाई गईं।
(3) मुसलमानों के बहुत से रीति-रिवाज हिन्दुओं के जीवन में आ गए	(3) सुल्तान, सरदार और हिन्दू राजा आते थे।
(4) तुर्क और अफगान फारस और मध्य एशिया से	(4) और बहुत से हिन्दू रीति-रिवाज मुसलमानों के जीवन में मिलने लगे।
(5) कश्मीर में भवन-निर्माण में मध्य एशिया की शैली अपनाई गई	(5) भी समाज के महत्त्वपूर्ण अंग थे।

III. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति उनके सामने दिए हुए कोष्ठकों के सही शब्द या शब्द समूहों से कीजिए:

1. सूफी मुसलमान भक्त थे और उन्होंने ईश्वर तक पहुँचने के लिए...............पर बल दिया। (घृणा, प्रार्थना, प्रेम, पूजा, उपवास-व्रत)
2. ....एक...............थे। उन्होंने बंगाल में उपदेश दिया। (कबीर, मुईनुद्दीन, भक्ति, उलेमा, चैतन्य, सूफी)
3. ....के शासक अहमद शाह ने...............नामक नगर बसाया जो अपने समय के...............के सर्वश्रेष्ठ नगरों में गिना जाता था। (बंगाल, महाराष्ट्र, बिहार, गुजरात, कलकत्ता, पूना, पटना, अहमदाबाद, अफ्रीका, दक्षिणा-पथ, भारत)

4. ....के राजाओं ने मंदिर के निर्माण के लिए बहुत-सा धन दिया। (बहमनी, विजयनगर, सल्तनत)
5. ....ने अपना बहुत-सा काव्य फारसी भाषा में लिखा पर उस काव्य का विषय प्रायः...............के प्रति प्रेम था और उसको भारत-निवासी होने का गर्व था। (कबीर, नानक, मुईनुद्दीन चिश्ती, अमीर-खुसरो, अफगानिस्तान, कन्नड़, भारत)।

IV. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:

1. सल्तनत काल से अभिजात वर्ग में आने वाले कौन-से लोग थे?
2. सूफी संप्रदाय के प्रमुख सिद्धांत क्या हैं? भारत के कुछ प्रमुख सूफी संतों का उल्लेख कीजिए?
3. कबीरदास कौन थे? उनके धार्मिक सिद्धांतों पर कुछ पंक्तियाँ लिखिए।
4. सिक्ख धर्म की स्थापना करने वाले कौन थे? उन्होंने किस प्रकार के उपदेश दिए?
5. इस काल में भारतीय भाषाओं में विकसित होने वाली कुछ प्रमुख विशेषताएँ बतलाओ?
6. तुर्कों और अफगानों ने भारत की वास्तुकला और संगीत को किस प्रकार प्रभावित किया?

V. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. सूफी संत और भक्त कवियों की कुछ काव्य रचनाएँ पढ़ो। तुमको किसका काव्य अधिक अच्छा लगा और क्यों?
2. अपने नगर के कुछ प्राचीन स्मारक देखो। क्या तुम उनकी वास्तुकला शैली को पहचान सकते हो?

अध्याय 6

मुगलों और यूरोप वासियों का भारत में आगमन

मुगलों के उत्तर भारत पर विजय प्राप्त करने के पूर्व दिल्ली से शासन करने वाले राजवंशो में लोदी वंश अंतिम था। सल्तनत छोटी और कमजोर हो गई थी क्योंकि उसके बहुत-से प्रांतों ने उससे अपना संबंध तोड़ लिया था और वे स्वतंत्र हो गए थे।

लोदी सुल्तानों ने सरदारों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया पर सरदार इसको पसंद नहीं करते थे। उनको अपनी स्वतंत्र शक्ति के प्रयोग करने का अभ्यास हो गया था अत: उन्होंने लोदी सुल्तानों के शासन से छुटकारा प्राप्त कर लेने का निश्चय कर लिया। उन्होंने काबुल के शासक बाबर के साथ षड्यंत्र किया और उससे सहायता माँगी। बाबर तैमूर का उत्तराधिकारी था। बाबर ने हिन्दुस्तान की सीमाओं तक आक्रमण किए। वह जानता था कि भारत एक धनवान और उपजाऊ देश है। जब भारत के सरदारों ने उससे सहायता माँगी तो वह सहायता देने के लिए तैयार हो गया और अपनी सेनाएँ लेकर पंजाब में पहुँच गया। लोदी सुल्तानों का विरोध करने वाले केवल अफगान सरदार ही नहीं थे। लोदी सुल्तानों के विरुद्ध बाबर की सहायता करने के लिए मेवाड़ का राजपूत शासक राणा साँगा भी तैयार हो गया।

बाबर

सन् 1526 ई० में पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में एक युद्ध हुआ जिसमें बाबर ने लोदी सुल्तान की सेना को पराजित कर दिया। वह मध्य एशिया से अपने साथ तोपखाना भी लाया था जो भारत की सेनाओं के लिए नई चीज थी। यह तोपखाना उसकी विजय के कारणों में एक प्रमुख कारण बन गया। बाबर के पास एक छोटी पर कुशल व प्रशिक्षित घुड़सवार सेना भी थी। उसने अपनी सेना के सैनिकों को इस प्रकार खड़ा किया कि वे एक युद्ध क्षेत्र से
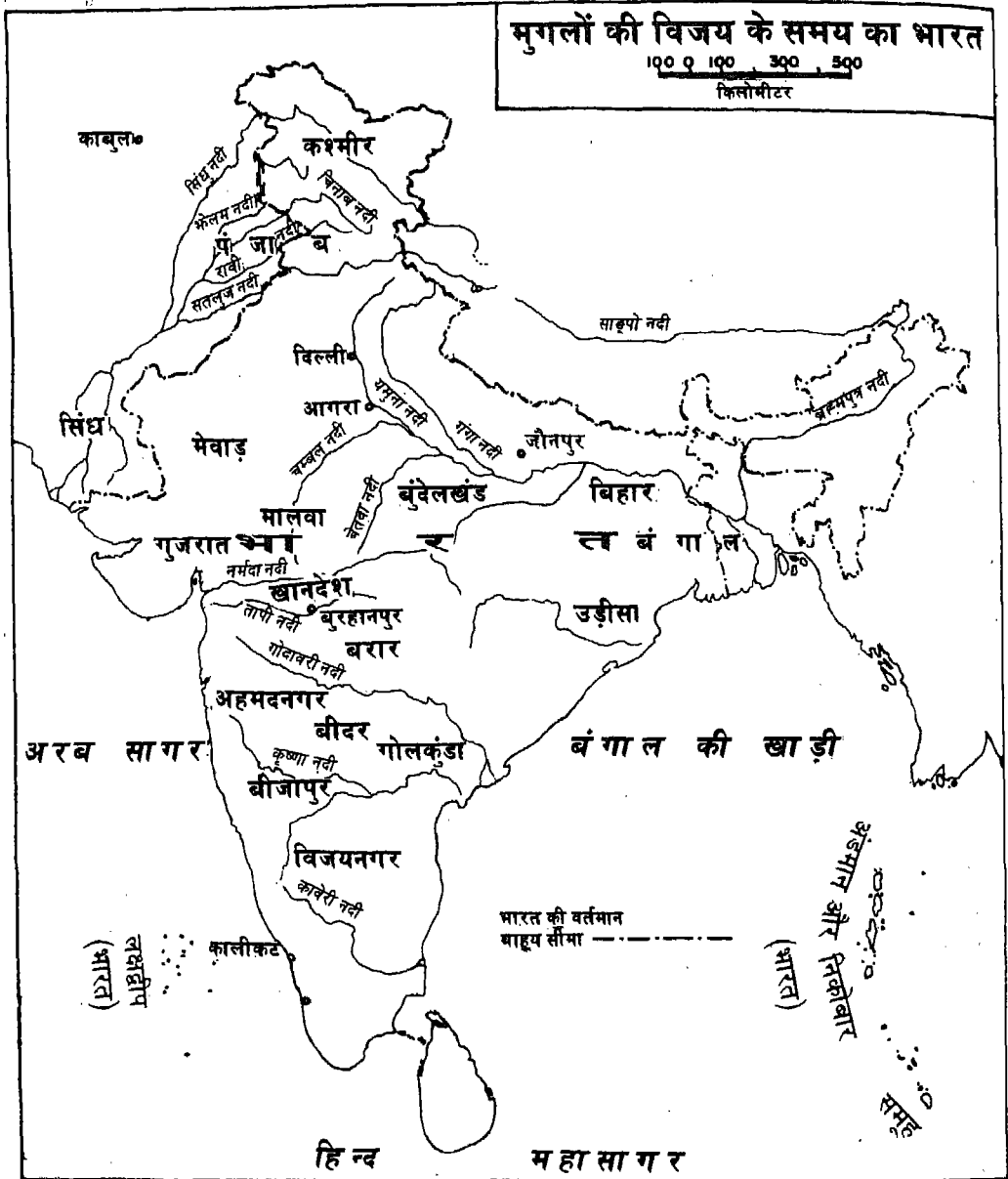
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

दूसरे युद्ध क्षेत्र की ओर आसानी से जा सकते थे। वास्तव में वह एक कुशल सेनाध्यक्ष था। वह जानता था कि अपने सैनिकों का सबसे अधिक उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। भारत के सरदार सोचते थे कि बाबर लोदी सुल्तान को पराजित करके तथा लूट के धन का अपना भाग लेकर काबुल लौट जाएगा किन्तु ऐसा नहीं हुआ। बाबर ने भारत में ठहरने का निश्चय किया और इसलिए उसने दिल्ली और आगरा पर भी अधिकार कर लिया। अब अफगान और राणा साँगा उसके विरोधी बन गए। उन्होंने यह प्रयत्न किया कि बाबर अपने राज्य का और अधिक विस्तार न कर सके पर उसने सभी को पराजित कर दिया।

इसके बाद वह बहुत समय तक जीवित नहीं रहा। सन् 1530 में उसकी मृत्यु हो गई। उसने पंजाब, दिल्ली और बिहार तक गंगा के मैदान पर अपना अधिकार कर लिया था। बाबर केवल एक बहादुर सेनापति ही नहीं था जो केवल यही जानता हो कि सेना को संगठित और व्यवस्थित करके किस प्रकार युद्ध किया जाता है बल्कि वह तुर्की भाषा का उच्च कोटि की शैली में रचना करने वाला कवि और लेखक भी था। वह अपनी डायरी भी लिखता था जिसमें उसके विचार और उसके समय की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। वह प्राकृतिक सौंदर्य से बहुत प्रभावित होता था। पर्वतों, वृक्षों, फूलों और पशुओं के सौंदर्य को देखकर वह मुग्ध हो जाता था। इसी कारण जहाँ कहीं भी वह रहा, वहाँ उसने सुंदर बाग-बगीचे लगवाए। उसको पोलो खेलने में बड़ा आनंद आता था। उस समय यह खेल सरदारों में बड़ा लोकप्रिय हो गया था।

हुमायूँ

यद्यपि बाबर ने भारत के एक क्षेत्र की विजय करके मुगल वंश के शासन की स्थापना कर दी थी किन्तु वह शत्रुओं से उसको सुरक्षित बनाने के लिए बहुत अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। इसी कारण उसके पुत्र हुमायूँ को आरंभ से ही मुसीबतों का सामना करना पड़ा। भारत में मुगल अभी नए-नए आए थे इसलिए उनको अपनी स्थिति को जमाए रखने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। अफगान सरदार जो अब भी मुगलों को भारत से निकाल देना चाहते थे, नवनिर्मित साम्राज्य पर आक्रमण कर रहे थे। गुजरात का शासक बहादुर शाह भी दिल्ली पर आक्रमण करने की ताक में था। हुमायूँ को शासन तथा लगान के प्रबंध का अवसर ही नहीं मिला। वह गुजरात और मालवा के प्रांतों की विजय करने में तो सफल हुआ पर पश्चिमी भारत पर वह अपना अधिकार स्थापित न कर सका। पूर्वी भारत में इस समय एक महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली अफगान सरदार शासन कर रहा था जो दिल्ली को जीत कर अपने को सुल्तान घोषित करना चाहता था। वह शेरशाह था। उसने मुगल बादशाह को केवल धमकाया ही नहीं, उस पर आक्रमण भी कर दिया। उसने हुमायूँ के साथ दो लड़ाइयाँ लड़ीं और दोनों ही में हुमायूँ की पराजय हुई। पंजाब और काबुल
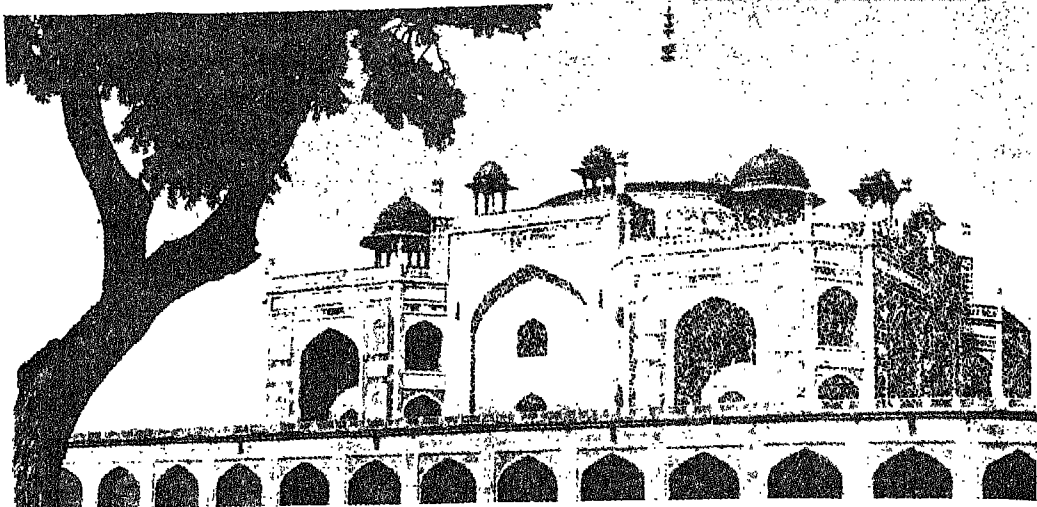
हुमायूँ का मकबरा, दिल्ली

में शासन करने वाले उसके भाई ने उसकी साहयता नहीं की। मुगलों को उत्तर भारत छोड़ देना पड़ा। बाबर का विजय किया हुआ राज्य हुमायूँ के हाथों से निकल गया। हुमायूँ सिन्ध और राजस्थान में एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकता फिरा। इसी अवसर पर जब वह अमरकोट में था उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही पुत्र आगे चलकर महान् सम्राट अकबर के नाम से भारत का शासक बना। अंत में हुमायूँ को सिन्ध छोड़ कर फारस चला जाना पड़ा।

शेरशाह

शेरशाह का असली नाम फरीद था किन्तु एक शेर को मार डालने के बाद उसका नाम शेरखाँ पड़ गया था। वह एक सरदार का पुत्र था जिसकी एक छोटी जागीर जौनपुर के पास थी। शेरशाह ने भूमि के विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, एक शक्तिशाली सेना बनाई और फिर अपने को एक स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। हुमायूँ को पराजित करने के बाद वह भारत का बादशाह बन बैठा। यही उसकी सफलता की चरम सीमा थी। उसकी अभिलाषा केवल भारत का शासक बनने की ही नहीं थी बल्कि वह एक योग्य शासक बनना चाहता था। वह अलाउद्दीन की नीतियों से बहुत प्रभावित हुआ विशेषकर उसकी सेना-संगठन तथा लगान वसूल करने की नीति से।

सुल्तान होते ही उसने अपनी सेना का संगठन किया और अपनी सैनिक-शक्ति को बढ़ा लिया। उसने अधिकारियों को नियमित रूप से वेतन देने पर जोर दिया, उनको असंतुष्ट नहीं होने दिया और इस प्रकार उसने अपने प्रशासन को सुधारा। यदि किसी को कोई शिकायत होती तो वह सीधे शेरशाह के पास जाकर उससे कह सकता
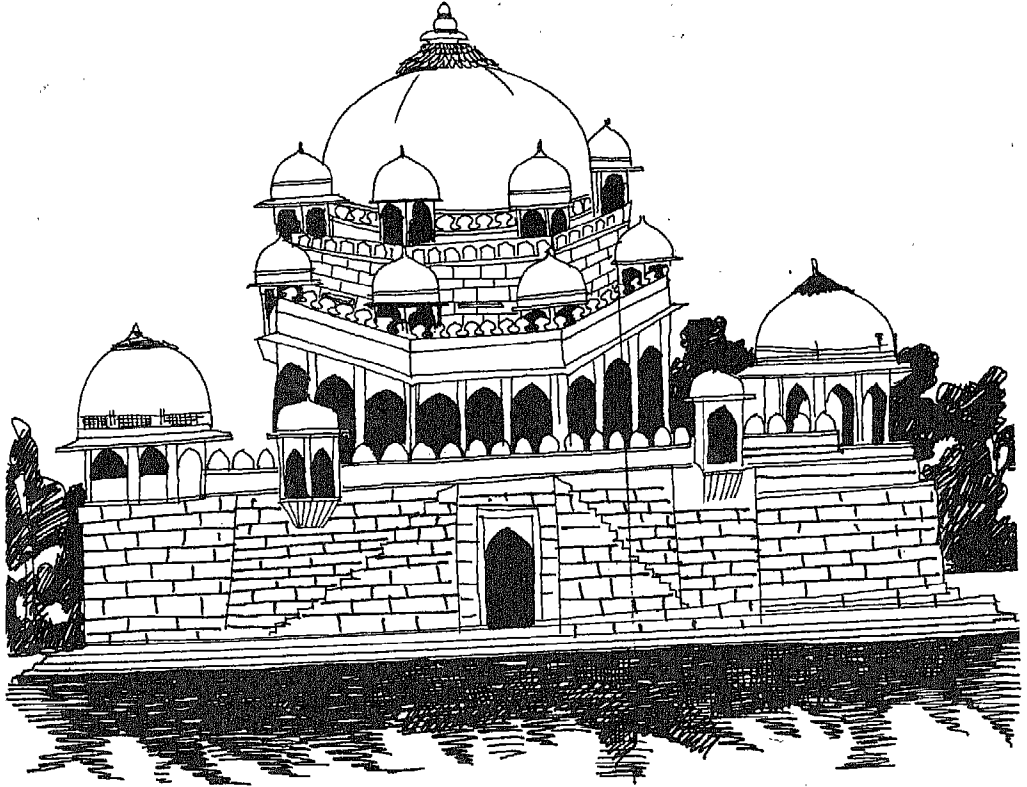
सासाराम में शेरशाह का मकबरा

था। इससे वह अपनी प्रजा में लोकप्रिय हो गया। वह स्वयं दौरे पर जाता था। इससे वह अपने अधिकारियों के कार्य की देखभाल कर सकता था। लगान की वसूली में वह बड़ा सतर्क था और इस बात का ध्यान रखता था कि उसके किसानों को बहुत अधिक लगान न देना पड़े। उचित लगान निश्चित करने के लिए उसने अपने राज्य की सारी भूमि का नए ढंग से बंदोबस्त किया। अलाउद्दीन के शासनकाल की भाँति उसने भूमि की नाप करा कर लगान निश्चित किया।

शेरशाह को अपनी सड़कों पर विशेष गर्व था। ये सड़कें उसी के आदेश से बनवाई गई थीं। इन सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाए गए तथा कुएँ खुदवाए गए थे और थके हुए यात्रियों के विश्राम के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर सराएँ बनवाई गई थीं। उत्तरी भारत से बंगाल तक मौर्यों की बनवाई हुई सड़क की फिर से

मरम्मत कराई गई। आधुनिक काल की पेशावर से कलकत्ता तक की ग्रैण्ड ट्रंक रोड इसी का नया रूप है। सड़कों के द्वारा दिल्ली को बुरहानपुर और जौनपुर से जोड़ दिया गया था। इन सड़कों का निर्माण बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि इससे जनता की यात्रा ही नहीं सरल हो गई बल्कि सुल्तान के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए भी एक स्थान से दूसरे स्थान को शीघ्रता से आना-जाना सुविधाजनक हो गया। इन सड़कों के कारण व्यापारियों को भी अपने माल को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को ले जाने में सुविधा हो गई। शेरशाह ने ही एक नए सिक्के, रुपया का चलन आरंभ किया जो आज तक प्रचलित है।

शेरशाह एक महान सुल्तान होता पर दुर्भाग्य से वह केवल पाँच ही वर्ष शासन कर सका और इस थोड़े से समय में वह अपनी नीति को पूर्ण रूप से कार्यान्वित भी नहीं कर सका। सन् 1545 ई० में कालिंजर के घेरे में उसके चेहरे के सामने एक बंदूक फट गई और इसी दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई। शेरशाह की मृत्यु की यह घटना हुमायूँ के लिए वरदान सिद्ध हुई। बिना योग्य शासक के उत्तरी भारत के राज्य की स्थिति डावाँडोल हो गई। हुमायूँ ने इस सुअवसर को देखा और उसने दिल्ली के सिंहासन को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। फ़ारस के सफ़ावी वंश के शासक की सहायता से हुमायूँ ने कंधार को जीत लिया और काबुल पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। भारत पर आक्रमण के लिए वह काबुल को अब आधार-स्थल बना सकता था। सन् 1555 में पंजाब को जीत कर उसने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार फिर से भारत में मुगलों के साम्राज्य की स्थापना हो गई। हुमायूँ अपनी इस सफलता का आनंद केवल एक ही वर्ष ले सका। सायंकाल की नमाज के बाद जब वह सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था, फिसल गया और गिरकर मर गया। उसका पुत्र अकबर उत्तराधिकारी बना और उसके शासन-काल में भारत फिर एक बार अपनी सभ्यता पर गर्व कर सका।

बहमनी राज्य

उत्तर भारत में होने वाली इन घटनाओं का दक्षिण के राज्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा पर मुगलों की शक्ति स्थापित हो जाने पर यह परिस्थिति बदल गई। मुगलों को अपने अधिकार का विस्तार दक्षिण भारत में भी करना था और इस प्रकार उनको लगभग संपूर्ण भारत को एक साम्राज्य के रूप में संगठित करना था।

पंद्रहवीं शताब्दी में बहमनी राज्य की बड़ी उन्नति हुई। अंशतः इसका श्रेय बुद्धिमान मंत्री महमूद गवाँ के कुशल शासन को दिया जाता है। सन् 1453 ई० में फारस का एक व्यापारी महमूद गवाँ भारत आया और उसने बहमनी राज्य के सुल्तान की नौकरी कर ली। धीरे-धीरे उन्नति करके वह बहमनी राज्य का मुख्यमंत्री बन गया। लगभग 25 वर्षों तक महमूद गवाँ ने

बहमनी सुल्तानों को कौशल और बुद्धिमानी से न्यायपूर्ण शासन चलाने में सलाह दी। उसने लगान वसूल करने की फिर से व्यवस्था बनाई जिससे राज्य को एक शक्तिशाली सेना का व्यय वहन करने के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके। लेकिन अन्य मूर्ख शासकों की भाँति उसने धन एकत्र करने के लिए प्रजा पर अत्याचार नहीं किए। वह इस बात पर विशेष सतर्कता के साथ ध्यान रखता था कि वह जनता से कितना कर वसूल करता है। इसके अतिरिक्त लगान प्राप्त करने के अन्य साधनों पर भी उसने विचार किया। उदाहरण के लिए उसने विजयनगर से गोआ जीत लिया जिससे वहाँ के व्यापार के लाभ का सारा धन अब बहमनी राज्य को प्राप्त होने लगा।

यद्यपि महमूद गवाँ जनता में बड़ा लोकप्रिय था पर उसके शुत्रु भी हो गए थे। बहमनी सुल्तानों के दरबार में दो दल थे। एक दल तो स्थानीय मुसलमानों का था जो दक्षिण भारत के रहने वाले थे और दूसरा दल महमूद गवाँ जैसे मुसलमानों का था जो विदेश से आए थे और बहमनी सुल्तानों की नौकरी करने लगे थे। इन दोनों दलों में मित्रता की भावना न थी और दोनों परस्पर एक दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखते थे। अंत में सन् 1481 ई० में स्थानीय दल के लोगों ने सुल्तान को महमूद गवाँ की हत्या करवाने के लिए राजी कर लिया।

गवाँ एक योग्य मंत्री था। अतः उसकी हत्या से बहमनी राज्य को बड़ी क्षति पहुँची। बाद के कुछ शासक कमजोर थे अतः उनके शासनकाल में राज्य भी कमजोर हो गया था। सरदार आपस में लड़ने लगे और सुल्तान उन पर नियंत्रण नहीं रख सका। कुछ सरदारों ने सुल्तान की शक्ति को भी चुनौती दी। इसके अतिरिक्त विजयनगर राज्य के आक्रमण भी बढ़ रहे थे। परिणामस्वरूप बहमनी राज्य पाँच नए राज्यों में विभाजित हो गया। ये बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर और बरार के राज्य थे। बाद में अहमदनगर ने बरार को और बीजापुर ने बीदर को विजय कर लिया। इस प्रकार अहमदनगर, गोलकुंडा और बीजापुर के केवल तीन राज्य रह गए।

विजयनगर राज्य

इस काल में विजयनगर में किस प्रकार की घटनाएँ हो रही थीं? वंशों के परिवर्तन के साथ इस राज्य में भी अपनी आंतरिक कठिनाइयाँ पैदा हो रही थीं। पंद्रहवीं शताब्दी में इन समस्याओं ने विजयनगर राज्य को शक्तिहीन कर दिया। परंतु पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में महमूद गवाँ की मृत्यु के पश्चात् जब बहमनी राज्य का पतन हो रहा था, विजयनगर साम्राज्य फिर बड़ा शक्तिशाली हो गया। इस समय विजयनगर राज्य का शासक कृष्णदेव राय था। उसने सन् 1509 से 1530 ई० तक शासन किया।

कृष्णदेव राय ने केवल रायचूर दोआब पर ही विजय नहीं प्राप्त की बल्कि वह अपनी सेनाएँ लेकर बहमनी राज्य के अंदर
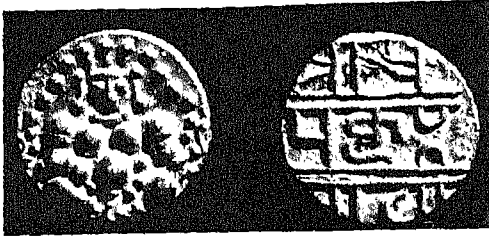
कृष्णदेव राय का सिक्का

प्रवेश कर गया। ऐसा उसने केवल यह सिद्ध करने के लिए किया कि विजयनगर राज्य बहमनी राज्य से अधिक शक्तिशाली है। उसने उड़ीसा के राज्य पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को भी पराजित किया। पश्चिमी समुद्र तट पर सभी स्थानीय राज्यों के साथ उसका व्यवहार मैत्रीपूर्ण था। ये शासक पश्चिमी एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के व्यापार पर निर्भर थे। कृष्णदेव राय समझता था कि यदि वह इन राज्यों को शांतिमय जीवन व्यतीत करने देगा तो वे विजयनगर से व्यापार करेंगे और इस व्यापार से विजयनगर राज्य समृद्धिशाली बनेगा।
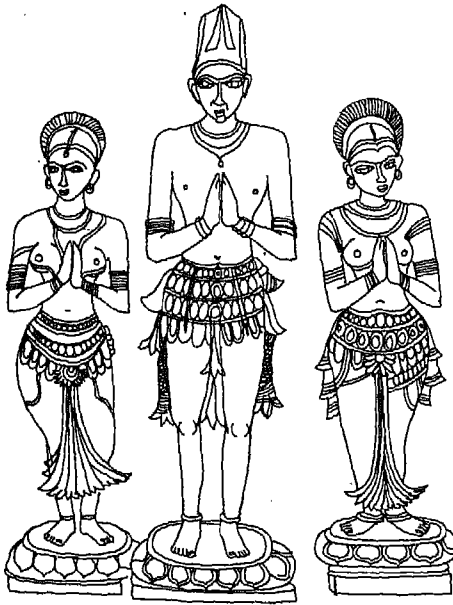
कृष्णदेव राय अपनी रानियों के साथ

कृष्णदेव राय प्राय: अपनी प्रजा की दशा को समझने के लिए अपने संपूर्ण राज्य की यात्रा करता था। वह चाहता था कि उसके अधिकारी अपने कर्तव्य का पालन करें और उसकी प्रजा सुखी रहे। वह अपने राज्य में कृषि की उन्नति के लिए भी प्रयत्नशील रहा जिससे प्रजा को अधिक अन्न प्राप्त हो और राज्य को अधिक लगान मिले। इसके लिए विस्तृत सिंचाई योजना की आवश्यकता थी। इसलिए जहाँ पानी एकत्र किया जा सकता था वहाँ उसने बड़े बाँध बनाने का आदेश दिया जिससे आवश्यकता पड़ने पर एकत्र किया पानी नहरों द्वारा खेतों तक ले जाया जा सके। उसने मंदिरों के निर्माण और उनकी मरम्मत पर भी बड़ा धन व्यय किया। कृष्णदेव राय को संस्कृत और तेलुगु की अच्छी शिक्षा मिली थी। उसने तेलुगु में एक लंबे काव्य 'अमुक्तमाल्यदा' की रचना की जिसमें उसने यह बतलाया कि राजा को किस प्रकार शासन करना चाहिए।

दक्षिण के तीन राज्य

सन् 1530 ई० में कृष्णदेव राय की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के साथ विजयनगर राज्य का पतन आरंभ हो गया। दक्षिण भारत के उत्तरी क्षेत्र के तीन राज्य अहमदनगर, गोलकुंडा और बीजापुर विजयनगर पर आक्रमण करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह अवसर 1565 ई० में आया जब इन राज्यों ने मिलकर तालीकोट की लड़ाई में विजयनगर को पराजित किया। अब विजयनगर का ऐश्वर्य-वैभव नष्ट हो गया। किन्तु दक्षिण के इन तीन राज्यों को भी अधिक समय तक अपनी विजय का आनंद भोगने का अवसर नहीं मिला। उत्तर भारत की घटनाओं का प्रभाव दक्षिण के इतिहास पर भी पड़ा। हम देख चुके हैं कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली की सल्तनत का पूर्ण पतन और मुगल वंश की नवीन शक्ति का उदय हो चुका था। मुगल यह समझते थे कि संपूर्ण भारत पर अधिकार करने के लिए उनको दक्षिण भारत पर भी अपना अधिकार स्थापित करना पड़ेगा। अत: मुगल राज्य का दक्षिण की ओर विस्तार बढ़ने से दक्षिण के ये राज्य नष्ट हो गए।

भारत और यूरोप

भारत के इतिहास की गतिविधि को केवल मुगलों ने ही प्रभावित नहीं किया। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में एक नितांत भिन्न प्रकार के लोग बड़े-बड़े जहाजों में भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर आए। ये पुर्तगाली थे। सन् 1498 ई० में वास्कोडिगामा का पहला पुर्तगाली जहाज भारत के समुद्र तट पर पहुँचा। पुर्तगाली व्यापार करने के लिए भारत आए थे। इस व्यापार से उनको बहुत अधिक लाभ हुआ जिससे और अधिक संख्या में यहाँ आने का उन्हें प्रोत्साहन मिला। पुर्तगाल से भारत तक की इस लंबी यात्रा में कई महीनों का समय लग जाता था क्योंकि व्यापारियों को अफ्रीका की दक्षिणी नोक आशा अंतरीप (केप ऑफ गुड होप) का चक्कर काटकर आना पड़ता था। फिर भी वे आते थे। धीरे-धीरे उन लोगों ने छोटे-छोटे भूमि भागों पर अपना अधिकार कर लिया और वहाँ अपने कारखाने बना लिए। कभी वे भूमि का मूल्य दे देते थे और कभी बलपूर्वक अधिकार कर लेते थे। पुर्तगाली व्यापारी अपने कारखानों और बंदरगाहों के निकट रहते थे। यहीं उनकी बस्तियाँ थीं। जहाँ पुर्तगालियों की बस्तियाँ थीं वहीं उनके धर्म प्रचारक भी रहते थे जो भारतवासियों को ईसाई बनाने के लिए आते थे। गोआ उनका प्राचीन उपनिवेश था जिसको पुर्तगालियों ने सन् 1510 ई० में प्राप्त किया था।

यूरोप से भारत आने वाले व्यापारियों में पुर्तगाली ही सबसे पहले नहीं थे। जैसा कि हमने देखा है व्यक्तिगत रूप से यूरोपीय व्यापारी व्यापार के लिए भारत के विभिन्न भागों की यात्रा पहले भी कर चुके थे। वेनिस का यात्री मार्को पोलो दक्षिण भारत आया था। निकितिन रूस से आया था और
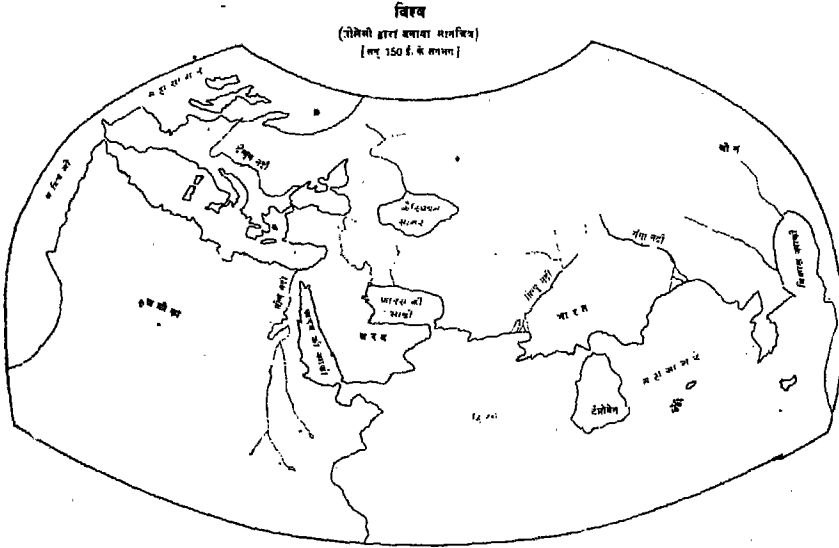
मिस्र का गणितज्ञ, ज्योतिर्विद और भूगोलवेत्ता क्लाउदस तोलेमियस दूसरी शताब्दी ईसवी में अलक्जेंड्रिया में रहता था। अपनी महत्त्वपूर्ण कृति **आल्मागेस्ट** (ब्रह्मांड की भू-केन्द्रीय प्रणाली का संश्लेषण जिसका यूनानी ज्योतिर्विदों ने किया और जिसे तोलेमिक प्रणाली कहा जाता है) के अतिरिक्त उसने मानचित्र-रचना तथा प्रक्षेपणों पर एक निबंध लिखा जिसके साथ लगभग 8000 स्थानों के अक्षांश और देशांतर की सारिणी संलग्न थी। इस निबंध का उसमें दिए गए आँकड़ों के आधार पर बने मानचित्रों सहित (यद्यपि जहाँ तक पूर्ण का संबंध है वे सही नहीं थे और केवल उत्तरी-पश्चिमी यूरोप के तट पर आंशिक रूप से सही थे) 15वीं शताब्दी के आरंभ में लैटिन में अनुवाद हुआ और इसने पुनर्जागरण काल के भूगोलवेत्ताओं को अत्यधिक प्रभावित किया।

उसने दक्षिण भारत की यात्रा की थी। पर ये सब व्यापारी अकेले आते थे। जब पुर्तगाली आए तो वे समूहों में आए और बस्तियाँ बनाने के लिए उनको अपने सम्राट से भी सहायता मिली। वे अपने साथ सैनिकों को भी लाते थे और विभिन्न क्षेत्रों को जीत कर वहाँ अपनी बस्तियाँ बनाते थे। यूरोप के अन्य देशों ने भी सोलहवीं शताब्दी में व्यापारियों के साथ अपने जहाज भेजे और व्यापार करने के उद्देश्य से अपनी बस्तियाँ बसाने की चेष्टा की। इंग्लैंड, फ्रांस, डेनमार्क, हालैंड और स्पेन से ये जहाज आए। यूरोप के सभी देश केवल भारत से ही नहीं बल्कि एशिया के बहुत से देशों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। मुख्यत: वे व्यापार करने के लिए ही आए पर उनका उद्देश्य केवल व्यापार करना ही नहीं था। वे संसार की खोज करना चाहते थे और नए लोगों और उनकी सभ्यताओं का परिचय प्राप्त करना चाहते थे। वे ऐसा क्यों चाहते थे यह जानने के लिए हमें यूरोप में होने वाली घटनाओं का अधिक विस्तार से अध्ययन करना होगा।

यूरोप में पुनर्जागरण

पंद्रहवीं शताब्दी में इटली में पुनर्जागरण हुआ जिसको 'रिनैसाँ' कहा जाता है। 'रिनैसाँ' शब्द का अर्थ है 'पुनर्जन्म'। यूरोप में अज्ञान के लंबे अंधकार-युग के बाद एक नया आंदोलन आरंभ हुआ। जिसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं जिनका संबंध हमारे आधुनिक जीवन और विचारधारा से है। रिनैसाँ आंदोलन में लोगों के मन में यूरोप की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के प्रति फिर रुचि उत्पन्न हुई। लोगों का ध्यान ईसाई धर्म के आरंभ होने से पूर्व की यूनान और रोम की सभ्यताओं और संस्कृतियों की ओर गया। इन सभ्यताओं के इतिहास, दर्शन, साहित्य और कलात्मक उपलब्धियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप नवीन विचार-शैलियों का विकास हुआ। विद्वान समाज, न्याय, दर्शन और धर्म से संबंध रखने वाले प्रश्न करने लगे। पहले लोग ईसाई चर्च के द्वारा दिए गए इन प्रश्नों के उत्तरों को स्वीकार कर लेते थे पर अब वे अन्य उत्तरों की खोज करने लगे। चारों ओर जिज्ञासा दिखलाई देने लगी। इटली के छोटे-छोटे अनेक राज्यों के शासक ही नहीं बल्कि धनी व्यापारी भी इस ज्ञान में रुचि लेने लगे। अरब-निवासियों के साथ वर्षों के व्यापारिक संबंध के कारण अरब देशों की विद्याएँ इटली और स्पेन में भी पहुँचीं। इससे भी यूरोप-निवासियों की जिज्ञासा की प्रवृत्ति अधिक तीव्र हुई।

धीरे-धीरे विद्वानों पर चर्च का प्रभाव कम होने लगा। मध्य युग में यह प्रभाव बहुत अधिक था। ब्रह्मांड, ईश्वर और मनुष्य-जीवन के संबंध में चर्च में जो कुछ बतलाया जाता उसको अब लोग पूर्णतः स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। व्यक्ति की विचारधारा अब उसको दिलाए गए विश्वासों पर निर्भर नहीं करती थी। उसकी विचारधारा का आधार वह था जो वह देखता था और अनुभव करता था। इस प्रक्रिया से आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ। विद्वान अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं का निरीक्षण करते और सभी वस्तुओं के साथ वैज्ञानिक प्रयोग भी करते थे और इस प्रकार अपने ज्ञान की वृद्धि करते थे। वे इस पर विश्वास नहीं करते थे कि ज्ञान ईश्वरप्रदत्त है। उनका विश्वास था कि अपने चारों ओर के संसार का बुद्धिमानी से अध्ययन करके ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। प्रयोग में लाए जाने वाले औजारों और विधियों की ओर और भी ध्यान आकर्षित किया गया और प्राविधिक ज्ञान की उन्नति का प्रयत्न किया गया।

इस सबका अर्थ था मनुष्य को विश्व के केन्द्र के रूप में देखना और उसको विशेष महत्त्व प्रदान करना। 'रिनैसाँ' युग के विचारक इस पर विशेष बल देते थे कि ज्ञान का प्रयोग मानव कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के महत्त्व को स्वीकार किया गया और साथ ही सहयोग और सामूहिक भावना के विकास पर भी बल दिया गया। मनुष्य को मनुष्य के साथ इसलिए भलाई नहीं

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त
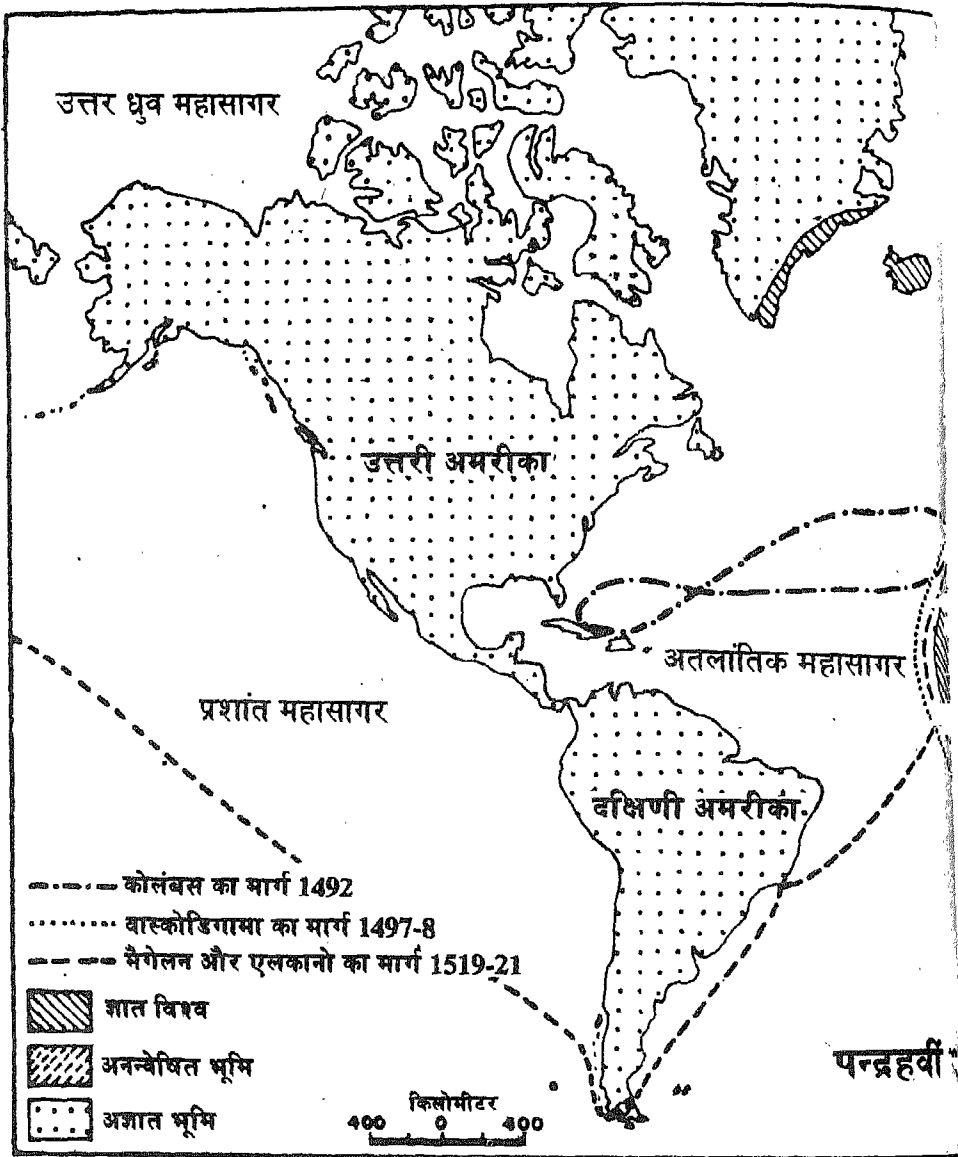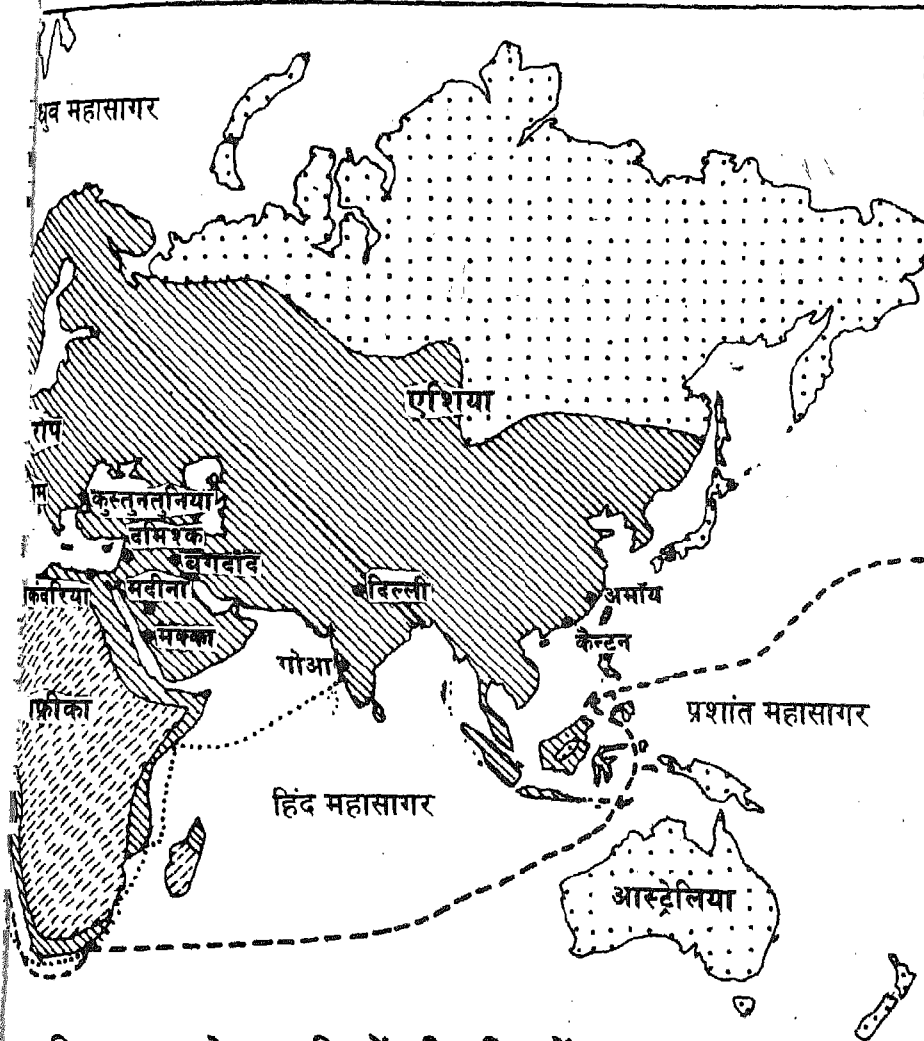
का विश्व—यूरोप-वासियों की दृष्टि में

The territorial water of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

पे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

करनी चाहिए कि ऐसा करना ईश्वर का आदेश है बल्कि इसलिए कि वे सब मनुष्य हैं।

ज्योतिष विद्या के विकास में रिनैसाँ युग की विचारधारा का परिचय प्राप्त होता है। पंद्रहवीं शताब्दी में पोलैंड के एक दार्शनिक कोपर्निकस ने एक नया क्रांतिकारी सिद्धान्त संसार के सामने रखा। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सूर्य ब्रह्मांड का केन्द्र है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसके चारों ओर चक्कर काटते हैं। उसका यह सिद्धान्त क्रांतिकारी समझा गया क्योंकि अभी तक चर्च का कहना था कि पृथ्वी को ईश्वर ने बनाया है अतः पृथ्वी ही ब्रह्मांड का केन्द्र है। गणित की गणना से कोपर्निकस ने अपने सिद्धांत को उसी प्रकार सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जिस प्रकार भारत में कई शताब्दियों पूर्व आर्यभट्ट ने किया था। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में इटली के ज्योतिषी और वैज्ञानिक गैलीलियो ने इसी तथ्य को सिद्ध किया। उसके परिणाम केवल सैद्धांतिक गणना पर ही आधारित नहीं थे। उसने निरीक्षण और प्रयोगों की विधि का प्रयोग किया। दूरबीन का आविष्कार उन्हीं दिनों हुआ था। उसने दूरबीन से सूर्य और अन्य ग्रहों को देखा फिर अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचा। गैलीनियो का यह कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वह वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग कर रहा था। वह चर्च के ज्ञान को असत्य घोषित करके उसको चुनौती दे रहा था। इससे चर्च के साथ उसका संघर्ष आरंभ हुआ। चर्च ने उसको यह घोषित करने के लिए विवश किया कि उसका सिद्धांत ठीक नहीं यद्यपि वह ठीक था। किन्तु उसके निरीक्षण और प्रयोगों के द्वारा प्राप्त यह ज्ञान यूरोप के अन्य देशों में फैलने लगा और परिणामस्वरूप क्रमशः अन्य वैज्ञानिक खोजें की गईं।

ये सब परिवर्तन बहुत शीघ्र नहीं हो गए। इस आंदोलन के यूरोप के सभी देशों में फैलने और लोगों की विचारधारा को प्रभावित होने में कम से कम दो शताब्दियों का समय लगा। यह आंदोलन इटली के नगरों से आरंभ हुआ और धीरे-धीरे यूरोप के अन्य देशों, विशेष रूप से फ्रांस, हालैंड, बेलजियम और इंग्लैंड के नगरों में फैल गया। नगरों के व्यापारी यह नहीं चाहते थे कि चर्च बहुत शक्तिशाली बन जाए। सामंतों के साथ भी उनके संबंध बहुत अच्छे नहीं थे क्योंकि वे हमेशा व्यापारियों से अधिक कर प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते थे। इस प्रकार रिनैसाँ युग की विचारधारा व्यापारियों में बहुत लोकप्रिय हो गई क्योंकि उसमें चर्च और सामंतशाही शक्ति का विरोध किया जाता था।

वह व्यक्ति जिसको प्रायः रिनैसाँ आंदोलन का प्रतीक माना जाता है लियानार्डो द विन्सी था। उसकी विचारधारा में इस नए आंदोलन के प्रभाव की झलक दिखती है। लियोनार्डो (1452-1519) इटली का रहने वाला एक अत्यंत प्रतिभावान चित्रकार था। उसके चित्रों में रूप और रंग का सूक्ष्म अध्ययन देखने को मिलता है।

लेकिन वह एक कलाकार भी था और वैज्ञानिक भी। उदाहरण के लिए जब उसे कार्यशील व्यक्तियों का चित्रण करना होता तो वह पहले शरीर की मांसपेशियों और व्यक्ति की क्रियाओं पर उनके प्रभाव का अध्ययन करता था। विज्ञान में रुचि होने के कारण उसने अनेक प्रकार की मशीनों का आविष्कार किया। उड़ने वाली मशीन के आविष्कार का प्रयत्न उसका सबसे अधिक रोमांचक प्रयोग था। सारे संसार के लोग पक्षियों को उड़ते देखते थे और उनके मन में भी उन्हीं की तरह उड़ने की इच्छा उत्पन्न होती थी। अनेक कवियों ने आकाश में उड़ने की कल्पना की थी। कुछ ने उड़नखटोलों का वर्णन भी किया पर ये सब वर्णन कल्पनात्मक थे। लियोनार्डो मनुष्य के उड़ने की केवल कल्पना करके संतुष्ट नहीं हो गया। उसने विद्यमान तकनीकी ज्ञान और आविष्कृत मशीनों का प्रयोग करके एक ऐसी मशीन बनाने का प्रयत्न किया जिसकी सहायता से मनुष्य आकाश में उड़ सके। उसके बनाए इस मशीन के चित्रों और वर्णन से हमको पता चलता है कि उसका मस्तिष्क कितने अच्छे वैज्ञानिक का मस्तिष्क था।

अनुसंधान का युग

रिनैसाँ के विचार एक शहर से दूसरे शहर में फैल गए। व्यापारी बहुत से विचार यूरोप के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले गए। शहरों के दुकानदार भी इन विचारों में रुचि रखते थे और शीघ्र ही एक ऐसा समय आने वाला था जब वैज्ञानिकों के साथ मिलकर दोनों का एक दूसरे की सहायता के लिए संगठन होने वाला था। सन् 1453 ई० में आटोमन तुर्कों ने कुस्तुंतुनिया पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। पश्चिमी एशिया का एक बहुत बड़ा भाग पहले से ही तुर्कों के अधिकार में था। इससे यूरोप को बहुत बड़ा धक्का लगा क्योंकि एशिया के साथ बहुत-सा व्यापार इसी क्षेत्र से होता था। अब एशिया के साथ यूरोप का व्यापारिक संबंध टूट गया। इसलिए यूरोप के व्यापारियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे एशिया और भारत के लिए एक नया मार्ग खोज निकालें।

सोलहवीं शताब्दी के एक जहाज का नमूना
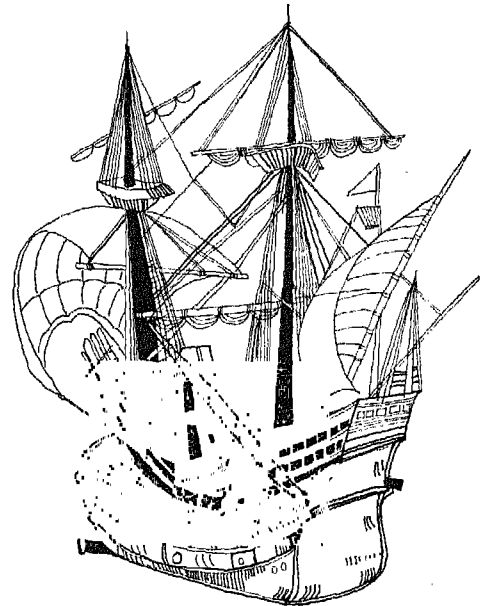
यूरोप को दो कारणों से एशिया के साथ अपने व्यापारिक संबंध बनाए रखना आवश्यक था। एक तो यूरोप को एशिया के मसालों की आवश्यकता पड़ती थी। मांस को बहुत समय तक उपयोग में लाए जाने योग्य बनाए रखने के लिए इन मसालों का उपयोग किया जाता था। उत्तरी यूरोप में जाड़े के मौसम की भयानक सर्दी में केवल इन्हीं साधनों का प्रयोग करके लोग मांस खा सकते थे। एशिया के मसालों का व्यापार अरब-निवासियों के हाथ में था। वे पश्चिमी एशिया के बाजारों में मसाले लाते थे और लाभ लेकर इटली के व्यापारियों के हाथ बेच देते थे। फिर इटली के व्यापारी बहुत अधिक लाभ पर उनको यूरोप के अन्य क्षेत्रों में बेचते थे। दूसरा कारण यह था कि यूरोप के बहुत से नगर एशिया के इसी व्यापार पर निर्भर थे और यदि यह व्यापार रुक जाता तो उन नगरों का पतन हो जाता। इसलिए इन नगरों के धनी व्यापारी इस व्यापार को कायम रखने के लिए और व्यापार के नए साधन खोजने के लिए धन व्यय करने को तैयार रहते थे।

यदि तुम यूरोप के मानचित्र को देखो तो तुम्हें यह पता चलेगा कि यूरोप से एशिया के लिए सबसे सीधा और सरल स्थल मार्ग पश्चिमी एशिया से होकर है। अब यह मार्ग यूरोप-निवासियों के लिए बंद हो गया था। अतः उनको इसके स्थान पर समुद्री मार्ग पर विचार करना था। परंतु उत्तरी भागों को छोड़कर अफ्रीका के विषय में उन दिनों लोगों की बहुत कम जानकारी थी। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के अस्तित्व का भी कोई ज्ञान नहीं था। रिनैसाँ युग के वैज्ञानिक इन व्यापारियों को भारत के लिए नया समुद्री मार्ग खोजने में सहायता प्रदान करने के लिए तैयार थे। इसी के परिणामस्वरूप यूरोप में 'नई खोजों का युग' आरंभ हुआ और भारत की ओर से जाने वाले समुद्री मार्ग खोजने के लिए यूरोप के बंदरगाहों से विभिन्न दिशाओं की ओर जहाज चलने लगे।

वास्को डि-गामा

इस क्षेत्र में सबसे पहले पुर्तगाली आए। सन् 1488 ई० में बार्थोलोम्यू डियाज ने अफ्रीका के पश्चिमी समुद्रीतट की यात्रा की

और वह अफ्रीका की दक्षिणी नोक आशा अंतरीप (केप ऑफ गुड होप) तक गया। दस वर्ष बाद वास्को डि-गामा ने डियाज के मार्ग का अनुसरण करते हुए अपनी यात्रा पूर्वी समुद्र तट पर भी जारी रखी। वह अरब सागर को पार कर सन् 1498 ई० में भारत पहुँच गया। एक अरबी समुद्र-यात्री की सहायता से भारत का समुद्री मार्ग खोजकर पुर्तगालियों ने अरब के व्यापारी उपनिवेशों पर आक्रमण किया और अरबों के व्यापार पर अपना अधिकार कर लिया। वे यूरोप को मसाले देने लगे और इस व्यापार से उनको बड़ा लाभ हुआ।

स्पेन के निवासी इस क्षेत्र में बहुत पीछे नहीं रहे। प्रसिद्ध यात्री क्रिस्टोफर कोलंबस के नेतृत्व में एक सामुद्रिक अभियान के

अमेरिगो वेस्पूकी

कोलम्बस

व्यय को स्पेन के बादशाह ने वहन किया। कोलंबस ने सोचा कि यदि वह स्पेन से पश्चिम की दिशा में समुद्र को पार करेगा तो वह भारत पहुँच जाएगा क्योंकि उस समय लोगों को यह जानकारी न थी कि बीच में अमरीका के महाद्वीप हैं। इसलिए उसने पश्चिम की ओर यात्रा आरंभ की और वह वेस्ट इंडीज के द्वीपों तक जा पहुँचा जिनको वह भारत का ही भाग समझता था। इसीलिए उसने उसको वेस्ट इंडीज कहा। यह घटना सन् 1492 ई० की है।

सन् 1497 ई० में अमेरिगो वेस्पुस्सी ने भी अमरीका की यात्रा की। अब तक उस समय के भूगोलवेत्ता यह जान गए थे कि वह अमरीका महाद्वीप था, एशिया नहीं। उसका नामकरण अमेरिगो वेस्पुस्सी के नाम पर अमरीका (अमेरिका) हुआ। बाद में सन् 1519 ई० में जब मैगेलन ने संसार के चारों ओर समुद्र यात्रा की तो अमरीकी महाद्वीपों का अस्तित्व सिद्ध हो गया। स्पेननिवासी भारत के समुद्री मार्ग का पता नहीं लगा पाए इसलिए एशिया के व्यापार में वे कोई भाग नहीं ले सके। लेकिन उन्होंने अमेरिका में दो बड़ी महान् सभ्यताओं की खोज की।

: मैगेलन

एक मेक्सिको की एजटेक्स सभ्यता थी और दूसरी पेरू की इनकैस सभ्यता। यहाँ उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में सोना, चाँदी और बहुमूल्य रत्न प्राप्त किए। इसीलिए उन्होंने इन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की, इन सभ्यताओं को नष्ट किया और वहाँ का सोना-चाँदी स्पेन ले आए। इस प्रकार स्पेन बड़ा धनी देश बन गया।

वैज्ञानिकों ने नए व्यापार और नए देशों की खोज में इन व्यापारियों की किस प्रकार सहायता की? भौगोलिक ज्ञान और वैज्ञानिक साधनों के सहारे ही संसार के विभिन्न भागों की खोज इतनी शीघ्रता से संभव हो सकी। सबसे पहले तो मानचित्रों की रचना में उन्नति और सुधार हुए। आरंभ में यूनानी और रोमन लोगों के बनाए मानचित्रों का प्रयोग यूरोप के नाविकों के द्वारा किया गया। पर अब जब कोई जहाज किसी नए देश को जाता तो अपने साथ जो नया ज्ञान और नई सूचना लाता वह भूगोलवेत्ताओं के पास पहुँच जाती जिसके आधार पर वे मानचित्र में सुधार कर देते। दूसरे बहुत से नए यंत्रों और विधियों का प्रयोग किया जाने लगा। इनके द्वारा कुछ नए प्रयोग भी किए गए। परिणामस्वरूप नाविक कला के ज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। यूरोप-निवासियों ने अरब-निवासियों के दो यंत्रों का प्रयोग किया। वे लगातार उनका बार-बार परीक्षण करते रहे और धीरे-धीरे उन्होंने उनको और अधिक शुद्ध तथा निश्चित सूचना देने वाला बना दिया। ये वेधयंत्र तथा क्वाड्रांत (चतुर्थांश) थे जिनकी सहायता से किसी

निश्चित स्थान के देशांतर की नाप की जाती थी। पृथ्वी से दूर मध्य समुद्र में यात्रा करता हुआ जहाज अपनी दिक्स्थिति नहीं खो सकता था क्योंकि गणना करके वह अपनी स्थिति का पता लगा सकता था। इन यंत्रों के प्रयोग के पहले नाविकों को अपनी दिशा को पता लगाने के लिए तारों की स्थिति पर निर्भर रहना पड़ता था। 'मैरिनर्स कँपास' (कुतुबनुमा) के आविष्कार के बाद समुद्र में खो जाने का भय और कम हो गया। अब जहाजों को समुद्र तट के सहारे यात्रा नहीं करनी पड़ती थी। वे समुद्र को सीधे पार कर सकते थे। इससे अब वे अधिक तेज गति से एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने लगे। व्यापारियों को भी अब सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में कम व्यय करना पड़ता था। पुर्तगालियों ने अनेक प्रकार के पालों के प्रयोग आरंभ किए और अंत में उन्होंने घूमने वाले पाल का आविष्कार किया जिसको वायु की दिशा के अनुसार ठीक किया जा सकता था। इसका यह अर्थ हुआ कि समुद्र के आर-पार चलने वाली हवाओं का प्रयोग किसी भी दिशा में किया जा सकता था और उनसे अधिक गति भी प्राप्त की जा सकती थी। पुर्तगालियों ने ही सबसे पहले अपने जहाजों में अच्छी किस्म की तोपें लगाईं और इस प्रकार अपनी लड़ने की शक्ति को बढ़ाया। यही कारण था कि वे समुद्र तट के स्थानीय लोगों से सफलता के साथ युद्ध कर सके। वे बंदरगाहों के ऊपर गोलाबारी कर सकते थे और समुद्र में भाग
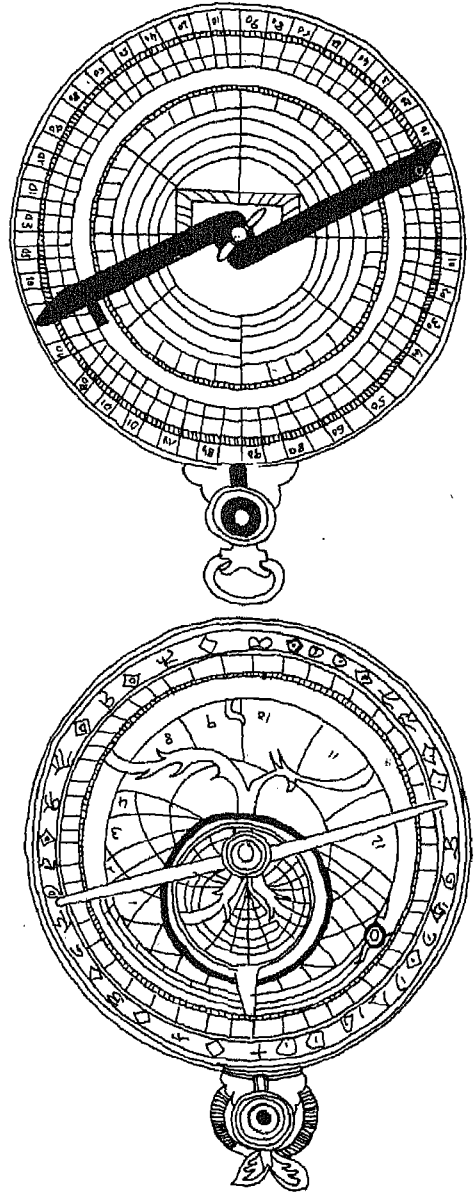
एक ऐस्ट्रोल्बे का चित्र

सकते थे। जब वे समुद्र तट की सेनाओं को कमजोर कर देते थे तब अपने सैनिकों को तट पर उतार कर युद्ध करते थे। विद्वान और वैज्ञानिक केवल पुस्तकीय ज्ञान का सहारा नहीं लेते थे बल्कि स्वयं मशीनों और यंत्रों का अध्ययन करते थे और उन व्यक्तियों के साथ मिलकर काम करते थे जो इन मशीनों और यंत्रों का प्रयोग करते थे। इसी कारण उनको अपने प्रयोगों और आविष्कारों में सफलता मिली थी।

स्पेन और पुर्तगाल के निवासी एशिया के लिए नए समुद्री मार्गों की खोज में लग गए। वे संसार के दूसरे क्षेत्रों से व्यापार करना चाहते थे पर यूरोप के अन्य देश हालैंड, बेल्जियम, इंग्लैंड और डेनमार्क भी इसमें उनके साथ सम्मिलित हो गए। ये देश इस क्षेत्र में बाद में आए और सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में पुर्तगाल और स्पेन का पतन हुआ तभी इनका महत्त्व बढ़ सका।

धर्म सुधार आंदोलन और उसकी प्रतिक्रिया

अनुसंधान और व्यापार के इस युग में पुर्तगाल और स्पेन के पतन तथा यूरोप के अन्य देशों के उत्थान का कारण यूरोप की धार्मिक पृष्ठभूमि थी। अंधकार युग से पुनर्जागरण (रिनैसाँ) युग तक यूरोप का सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म ईसाई धर्म था। इस समय तक ईसाई धर्म दो दलों में विभाजित हो चुका था। इनमें एक रोमन कैथोलिक धर्म था और दूसरा यूनान का परंपरावादी ईसाई धर्म। यूनानी परंपरावादी धर्म का केन्द्र कुस्तुंतुनिया था। उन लोगों का कहना था कि उनका धार्मिक दृष्टिकोण अधिक प्राचीन और परंपरावादी था। रोमन कैथोलिक धर्म का केन्द्र रोम था। ईसाई धर्म के संबंध में उनका दृष्टिकोण कुछ समय बाद का था और इसी दृष्टिकोण को सारे उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में स्वीकार किया गया था। चर्च का सबसे बड़ा नेता पोप कहलाता था। पोप का अर्थ होता है पिता। सारे मध्य युग में पोप राजनीतिक तथा धार्मिक मामलों में सबसे अधिक शक्तिशाली था। कोई पोप के अधिकारों का विरोध नहीं कर सकता था। यह वह परिस्थिति थी जब पुनर्जागरण (रिनैसाँ) युग के नवीन विचार लोगों की विचार-धारा को प्रभावित करने लगे।

पुनर्जागरण के विचारकों ने कुछ ऐसे नवीन विचारों को विशेष महत्त्व प्रदान किया जिनको कैथोलिक चर्च वाले नहीं स्वीकार करते थे। उदाहरण के लिए उनका कथन था कि ज्ञान केवल वह नहीं है जो पुस्तकों मे लिखा है या जो समाज के धार्मिक नेता सोचते हैं। सामान्य व्यक्तियों के विचारों और प्रेक्षण से भी ज्ञान की बातें जानी जा सकती हैं। वे यह भी कहते थे कि धर्म के क्षेत्र में मनुष्य को केवल ईश्वर से ही नहीं अपने साथी मनुष्यों से भी संबंध रखना चाहिए। इसके साथ ही नई खोजें और नया ज्ञान आया जिससे रिनैसाँ युग के विचारकों का विश्वास अपने विचार करने के ढंग और अपने कार्यों पर दृढ़ हुआ।

धीरे-धीरे चर्च और पोप के अधिकारों को चुनौती दी जाने लगी। लोग राजनीति जैसे धर्म-निरपेक्ष विषयों में चर्च के हस्तक्षेप पर आपत्ति प्रकट करने लगे। अभी तक चर्च को लोगों से अनेक प्रकार के कर लेने का अधिकार था लेकिन अब लोग इन करों का विरोध करने लगे। चर्च धन एकत्र करता था और उसको भूमि के अनुदान मिले हुए थे इसलिए पादरी विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। यह ईसा मसीह की शिक्षाओं के विरुद्ध था। रोमन कैथोलिक चर्च के विरुद्ध भावनाएँ शक्तिशाली होती गईं और अंत में बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने उससे अपना संबंध विच्छेद कर लिया। मार्टिन लूथर, इरैस्मस, जान कैल्विन जैसे ईसाई धर्मशास्त्रियों ने चर्च को त्याग दिया। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में चर्च से संबंध विच्छेद ने एक नवीन ईसाई दल का निर्माण किया जो प्रोटैस्टैंट कहलाया। ये वे लोग थे जो रोमन कैथोलिक चर्च का विरोध करते थे। यह आंदोलन धार्मिक सुधार आंदोलन कहलाया। ईसाई धर्म के इस विभाजन के परिणामस्वरूप बड़ी खून-खराबी हुई क्योंकि कैथोलिक और प्रोटैस्टैंट दलों में बहुत लंबे समय तक लड़ाइयाँ होती रहीं।

उत्तरी यूरोप के नगरों के व्यापारियों ने प्रोटैस्टैंट आंदोलन की विचारधारा को स्वीकार किया और उसको सहायता प्रदान की। प्रोटैस्टैंट लोगों ने चर्च के अधिकारों को चुनौती दी। धार्मिक मामलों में छानबीन करने की प्रवृत्ति को उत्साहित किया गया और व्यक्ति के जीवन को महत्त्व मिला। अतः उनकी विचारधारा का रिनैसाँ के नवीन विचारों से किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हुआ। हालैंड, इंग्लैंड, नार्वे और स्वीडन जैसे उत्तरी यूरोप के देशों ने कैथोलिक चर्च से अपना संबंध तोड़ लिया और प्रोटैस्टैंट धर्म को स्वीकार कर लिया। फ्रांस दोनों धर्मों को मानने वालों में विभाजित हो गया। इन्हीं देशों के व्यापारियों ने नवीन वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग किया और नवीन विचारधारा का विकास हुआ।

उत्तरी यूरोप में धार्मिक सुधार हो जाने पर दक्षिण यूरोप के कैथोलिक देशों में इस सुधार आंदोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में सुधार का एक दूसरा आंदोलन आरंभ हुआ। स्पेन के कैथोलिक इस आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। कैथोलिक धर्म में सुधार करने के प्रयत्न आरंभ हुए। जेसस या जेसुइट्स दल का इसी उद्देश्य से निर्माण हुआ। इसी दल का प्रसिद्ध फ्रांसिस जेवियर था जिसने अपने जीवन के बहुत से वर्ष भारत में धर्म-प्रचार में व्यतीत किए और अंत में उसकी मृत्यु यहीं पर हुई। किन्तु कैथोलिक चर्च ने इस सुधार के आंदोलन को स्वीकार करने से इन्कार किया। साथ ही वह और अधिक परंपरावादी बन गया। यदि कोई व्यक्ति चर्च का विरोध करता था तो उस पर धार्मिक मुकदमा चलाया जाता था और उसको दंड दिया जाता था। प्रायः इस प्रकार के धर्म-विरोधियों को आग में जीवित जला दिया जाता था। इन मुकद्दमों को इंक्वीजिशन (Inquisition) कहा

जाता है। लोगों को नवीन ढंग से विचार करने का अधिकार नहीं था। इससे बहुत बड़ी मात्रा में बौद्धिक पतन हुआ।

इसके विरुद्ध उत्तरी देशों में परिस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। चर्च की जायदाद को छीन लिया गया और उसका लगान राजकोष में आने लगा। व्यापारियों को व्यापार में बड़ा प्रोत्साहन प्रदान किया गया क्योंकि इससे देश को बहुत-सा धन प्राप्त होता था। जब कभी आवश्यकता पड़ती थी सरकार इन व्यापारियों की सहायता करती थी। इस प्रकार जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, यूरोप और एशिया के संबंध व्यापार से आरंभ हुए पर धीरे-धीरे इसमें देशों की सरकारें भी रुचि लेने लगीं। अंत में एशिया और अफ्रीका में यूरोप के उपनिवेश बन गए।

भारतवर्ष में पुर्तगाली

पुर्तगाली भारत में व्यापार करने के लिए आए। उनका पहला उद्देश्य अरब व्यापारियों के मसाले के व्यापार को अपने अधिकार में लेना था। समुद्री डकैती का भी सहारा लेकर उन्होंने इस उद्देश्य को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की। मसाले के इस व्यापार को कायम रखने के लिए उनको पश्चिमी एशिया, भारत और बाद में दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भी अपने उपनिवेश स्थापित करने पड़े। एशिया में आकर वे मसाले के अतिरिक्त वस्त्रों आदि अन्य वस्तुओं का भी व्यापार करने लगे। पुर्तगाली कभी भारत को अपना घर नहीं बनाना चाहते थे। वे केवल कुछ समय तक अस्थायी रूप में उपनिवेशों में रहते थे और फिर पुर्तगाल लौट जाते थे। भारत में उनकी केवल इतनी रुचि थी कि यह एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यापार से बड़ा लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

उनको एक और दिलचस्पी भी थी। वे अधिक से अधिक संख्या में भारतवासियों को रोमन कैथोलिक चर्च का ईसाई बनाना चाहते थे। वे भारत में प्रचलित धर्मों के प्रति सहिष्णु न थे और लोगों को ईसाई बनने के लिए मजबूर करने में संकोच नहीं करते थे। उन्होंने भारत में अपने धार्मिक न्यायालय (इंक्वीजिशन) भी स्थापित किए। ईसाई धर्म भारत के लिए नवीन धर्म न था। यहाँ के सबसे पहले ईसाई सीरिया के ईसाई थे जिन्होंने पुर्तगालियों के यूरोप में ईसाई बनने से बहुत पहले इस धर्म को स्वीकार किया था। सीरिया के ईसाई शांतिपूर्ण ढ़ंग से कई शताब्दियों से भारत में रह रहे थे पर पुर्तगाली इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने अधिक संख्या में भारतवासियों को ईसाई बनाने के लिए जो कुछ वे कर सकते थे किया।

भारत में मुगल

इसके विरुद्ध भारत में मुगलों के आगमन के भिन्न परिणाम रहे। मुगल भारत में व्यापार करने के लिए नहीं आए। वे अपना साम्राज्य स्थापित करने आए और इसमें उनको सफलता मिली। सबसे बड़ा अंतर तो यह था कि मुगलों ने भारत को अपना निवास स्थान बना लिया और यहाँ बस गए तथा भारतीय जनता का अंग बन गए।

भारत की भलाई को वे सदैव अपनी दृष्टि के सामने रखते थे। मुगल यह भी नहीं चाहते थे कि बहुत बड़ी संख्या में हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया जाए। भारत में पहले ही से बड़ी संख्या में मुसलमान रहते थे। औरंगजेब को छोड़कर अन्य मुगल शासक अपनी धार्मिक नीति में बड़े उदार थे। मुगल-शासन का परिणाम एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना थी जिसमें संपूर्ण भारत सम्मिलित था। भारत को एक नई सभ्यता का युग देखने को मिला। अकबर इस नई सभ्यता का प्रतीक था।

अभ्यास

I. स्तंभ 'अ' के कथन का स्तंभ 'आ' के कथन से सही संबंध स्थापित करो:

अ	आ
1. हुमायूँ को पराजित करने के बाद	1. तब विजयनगर राज्य शक्तिशाली बन गया।
2. महमूद गवाँ ने बहमनी राज्य के शासकों को	2. वेनिस से आया और उसने दक्षिण भारत का भ्रमण किया।
3. पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में जब बहमनी राज्य का पतन हो रहा था।	3. शेरशाह ने अपने को भारत का शासक घोषित कर दिया।
4. मार्कोपोलो	4. रूस से आया और उसने दक्षिण भारत का भ्रमण किया।
5. निकितिन	5. बुद्धिमानी से 25 वर्ष तक न्यायपूर्ण शासन करने में सहायता दी।

II. नीचे दिए हुए कथनों के रिक्त स्थानों की पूर्ति उनके सामने कोष्ठकों में दिए सही शब्दों या शब्द समूहों से कीजिए:

1. सन् 1526 ई० में................के प्रसिद्ध मैदान में एक युद्ध हुआ जिसमें.............ने लोदी सेना को पराजित किया। (तालीकोट, तराइन, पानीपत, हुमायूँ, बाबर, राणा साँगा)
2. यह संभव था कि...............भी उतना ही महान् शासक बन जाता जितना ....यदि उसको और अधिक शासन करने का अवसर मिलता। (बाबर, हुमायूँ, शेरशाह, मुहम्मद गौरी, अलाउद्दीन, मुहम्मद बिन तुगलक)
3. सन् 1453 ई० में...............नाम का फारस का एक व्यापारी...............राज्य में पहुँचा और उसने वहाँ के शासक की नौकरी की। (इब्नबतूता, महमूद गवाँ, टामस रो, बहमनी, विजयनगर, बीजापुर)
4. कृष्णदेव राय की सन्...............ई० में मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के

साथ................राज्य का पतन हो गया। (1453, 1530, 1543, बहमनी, विजयनगर, बरार)

5. ....ने भारत में एक क्षेत्र को विजय किया और अपने पूर्वजों................ के नाम पर अपने राज्य की स्थापना की। (हुमायूँ, शेरशाह, बाबर, ममलूक, अब्बासी, मुगलों)
6. ....ने इस सत्य की खोज की कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है किन्तु................ने उसको यह कहने के लिए मजबूर किया कि यह असत्य था। (कोपर्निकस, लियोनार्डो दा विन्सी, गैलीलियो, मुसलमान, प्रोटैस्टैंट, कैथोलिक चर्च)
7. ....पहला यूरोप-निवासी था जो अमरीका पहुँचा पर उस महाद्वीप का नाम................नाम पर रखा गया। (बार्थोलोम्यू, डियाज़, वास्को डि-गामा, क्रिस्टोफर कोलंबस, अमेरिगो वेस्पुस्सी, मैगेलन)

III. नीचे दिए हुए कथनों में से कौन-से सही हैं? प्रत्येक कथन के सामने 'हाँ' या 'नहीं' लिखकर उत्तर दो:

1. सन् 1545 ई० में कालिंजर के घेरे में शेरशाह मारा गया।
2. सन् 1453 ई० में फारस का एक व्यापारी महमूद गवाँ बहमनी राज्य को छोड़कर विजयनगर चला गया और वहाँ के राजा की नौकरी कर ली।
3. अहमदनगर को बरार ने और बीजापुर को बीदर ने जीत लिया।
4. कृष्णदेव राय ने केवल रायचूर दो आब पर ही अधिकार नहीं कर लिया बल्कि वह अपनी सेनाएँ लेकर बहमनी राज्य में प्रवेश कर गया।
5. सन् 1498 ई० में वास्को डि-गामा का पहला पुर्तगाली जहाज भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर पहुँचा।

IV. नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दो:

1. सरदारों ने बाबर को लोदी सुल्तानों से युद्ध करने के लिए क्यों आमंत्रित किया?
2. शेरशाह कौन था? उसको सफलता क्यों मिली? यह क्यों कहा जाता है कि यदि वह अधिक दिन जीवित रहता तो एक महान् सुल्तान होता?
3. बहमनी साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में क्यों बँट गया और उसका क्या परिणाम हुआ?
4. कृष्णदेव राय कौन था? उसका क्यों स्मरण किया जाता है?
5. पहले पहल कौन-से यूरोप निवासी भारत आए? उनके आने का क्या उद्देश्य था?
6. 'रिनैसाँ' शब्द का क्या अर्थ है? उसका यूरोप पर क्या प्रभाव पड़ा?
7. कोपर्निकस और गैलीलियो के सिद्धांतों में क्या अंतर है?
8. लियोनार्डो दा विन्सी को रिनैसाँ का प्रतीक क्यों कहा जाता है?
9. भारत के लिए नया मार्ग खोजने में यूरोप-निवासियों को किन खोजों से सहायता मिली?

10. सोलहवीं शताब्दी में ईसाई चर्च रोमन कैथोलिक और प्रोटैस्टैंट दो दलों में क्यों विभाजित हो गया?

V. **करने के लिए रुचिकर कार्य:**

1. अपनी एटलस में उस मार्ग को खोजो जिससे यूरोप और अरब के व्यापारी भारत आए।
2. यूरोप के उन राष्ट्रों की एक सूची बनाओ जिन्होंने संसार के नए क्षेत्रों की खोज की और अपनी एटलस में उन स्थानों को देखो जहाँ की उन्होंने यात्रा की।

अध्याय 7

अकबर

सन् 1556 ई० में पिता की मृत्यु होने पर जब अकबर को बादशाह घोषित किया गया तब वह केवल तेरह बर्ष का था। इस छोटी अवस्था के बालक के लिए यह एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। अकबर को कबूतर उड़ाने और चीतों के शिकार पर जाने का बड़ा शौक था। पढ़ने-लिखने में उसकी अधिक रुचि नहीं थी पर उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी अच्छी थी और पुस्तकें पढ़वाकर सुनने में उसको आनंद प्राप्त होता था। चूँकि वह अभी बहुत छोटा था इसलिए उसका अभिभावक बैरम खाँ उसके लिए राज्य की देखभाल करने लगा। जब तक अकबर इस योग्य नहीं हो गया कि वह अपने राज्य का शासन चला सके तब तक राज्य के सारे मामलों की देखभाल, प्रशासन और युद्ध के कार्य बैरम खाँ ही करता था।

उत्तर भारत में मुगलों के राज्य को सुदृढ़ बनाने का हुमायूँ को अवसर नहीं मिला। यह कार्य अकबर के लिए रह गया था। सबसे पहला संघर्ष हेमूँ से हुआ। हेमूँ अफगान राजाओं (सरदारों) में से एक का सेनापति था और उसने शेरशाह के राज्यकाल में अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर लिया था। बैरम खाँ और हेमूँ के बीच पानीपत का दूसरा युद्ध हुआ। हेमूँ की पराजय हुई और दिल्ली और आगरा पर, जो मुगलों के हाथ से निकल गए थे, अकबर का फिर से अधिकार हो गया। अब एक बार फिर मुगलों की शक्ति की उत्तर भारत में स्थापना की जाने लगी। जब अकबर बालिग हो गया तो उसने बैरम खाँ से शासन की बाग-डोर अपने हाथ में ले ली। दिल्ली और आगरा में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के बाद अकबर ने मुगल शासन क्षेत्र को देश के अन्य भागों तक विस्तृत करने का निश्चय किया। वह ग्वालियर, अजमेर और जौनपुर जैसे अन्य प्रमुख नगरों और किलों को जीतने के लिए अग्रसर हुआ। उसने मालवा को भी अपने राज्य में मिला लिया। इससे अकबर का राज्य राजपूत राज्यों का पड़ोसी बन गया।

अकबर राजपूतों के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक था।

अपने परिवार और विभिन्न राजपूतों के राजपरिवारों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करके उसने इस मित्रता को स्थापित करने का एक उपाय खोजा। उसने स्वयं अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किए। राजपूतों के साथ संधि करने और मित्रता स्थापित करने की इस नीति से उसकी स्थिति बड़ी सुदृढ़ हो गई। उसने अपने प्रशासन में राजपूतों को उच्च पदों पर भी नियुक्त किया। उसके कुछ महत्त्वपूर्ण और स्वामिभक्त अधिकारी राजा मानसिंह जैसे राजपूत ही थे। उसको राणा प्रताप जैसे उन राजपूत राजाओं के साथ भी युद्ध करने पड़े जो उसका विरोध करते थे। रणथंभौर और चित्तौड़ जैसे राजस्थान के दो शक्तिशाली दुर्गों पर मुगलों का अधिकार हो गया।

अकबर ने संपूर्ण भारत को एक राष्ट्र समझा और उसने संपूर्ण भारत पर शासन करने की इच्छा की। इसलिए विजय करके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए उसने सब दिशाओं में अपनी सेनाएँ भेजीं। उसने गुजरात को विजय कर लिया। वह विजय इस कारण और महत्त्वपूर्ण थी कि गुजरात के समुद्र पार व्यापार से प्राप्त होने वाला कर अब मुगल साम्राज्य को मिलने लगा। गुजरात के व्यापारी, अरब और यूरोप दोनों देशों से व्यापार करते थे। इसलिए उनको बड़ा लाभ होता था। बाद में बंगाल को भी विजय करके साम्राज्य में मिला लिया गया। इस क्षेत्र का भी महत्त्व था क्योंकि यहाँ की उपजाऊ भूमि से बहुत-सा लगान और विदेशी व्यापार का बहुत-सा कर मिलता था। बंगाल में दक्षिण-पूर्वी एशिया और चीन के व्यापारी आते थे। बंगाल के व्यापारी मसालों के बदले कपड़े लेते थे।

अकबर का सिक्का

सन् 1595 ई० तक अकबर ने कश्मीर, सिन्ध, उड़ीसा, मध्य भारत और अफगानिस्तान में कंधार को जीत लिया। उत्तर भारत का संपूर्ण क्षेत्र अब मुगलों के अधिकार में आ गया। अब भारत का उसके उत्तर तथा पश्चिम के क्षेत्रों से मित्रता का संबंध स्थापित करके अकबर ने उत्तरी सीमा को सुरक्षित कर लिया। साथ ही साथ फारस और मध्य एशिया के साथ व्यापारिक संबंध और अधिक बढ़ गए। भारत के केवल असम और दक्षिण प्रायद्वीप के राज्य स्वतंत्र रह गए। अकबर दक्षिण को विजय करने के लिए अधिक उत्सुक नहीं था। किन्तु उसने यह अनुभव कर लिया कि दक्षिण पर अधिकार करके ही वह संपूर्ण प्रायद्वीप पर अधिकार कर सकता है। इसलिए अहमदनगर राज्य के विरुद्ध अभियान आरंभ हुआ। यह घेरा आठ साल

तक चला क्योंकि दक्षिण के राज्यों ने मुगलों का विरोध करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। अंत में मुगलों ने खानदेश, बरार और अहमदनगर के कुछ भागों को अपने राज्य में मिला लिया। अब दक्षिण में गोदावरी नदी तक मुगल साम्राज्य का विस्तार हो गया। अकबर अब भारत के बहुत बड़े भाग का सम्राट बन गया।

प्रशासन

मुगलों की शासन-प्रणाली भारत में विद्यमान तथा मध्य एशिया और फारस से मुगलों के द्वारा ग्रहण की गई शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण थी। गाँवों और नगरों के प्रशासन में बहुत कम परिवर्तन किया गया। प्राचीन प्रणाली चलती रही और बहुत-से हिन्दुओं को स्थानीय अधिकारियों के पद पर नियुक्त किया गया। कहीं-कहीं पर दूर के गाँवों में लोगों को इस बात का भी पता नहीं चला कि दिल्ली में नए राजवंश का शासन आरंभ हो गया है पर धीरे-धीरे मुगल शासन का प्रभाव अनुभव किया जाने लगा।

मनसबदारी प्रथा मुगलों की शासन-प्रणाली की सबसे प्रमुख विशेषता थी। हर एक सरदार, अधिकारी और नागरिक कर्मचारी को एक पद या मनसब दिया जाता था। उसको **मनसबदार** कहा जाता था। मनसब सैनिकों की संख्या के अनुसार छोटा-बड़ा होता था। अधिकारियों और सरदारों को दिए गए ये मनसब 10 से 5000 तक के होते थे। अपने जीवनकाल में ही अधिकारी इस मनसब या पद पर रहता था। उसका पुत्र यदि बादशाह की नौकरी करना चाहता तो वही पद वह उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं कर सकता था। उसको अपनी योग्यता के अनुसार अपने पद पर नियुक्ति मिलती थी। इस प्रकार सम्राट अपने अधिकारियों और सरदारों की शक्ति पर पूर्ण नियंत्रण रखता था। सम्राट अपने मनसबदार की सेना का जब उसकी इच्छा होती थी प्रयोग कर सकता था। अकबर की एक चुनी हुई सेना उसके अपने अधिकार में रहती थी और उसका अपना तोपखाना भी था। अतः इस बात का भय नहीं था कि मनसबदार अपनी सेना का प्रयोग सम्राट के विरुद्ध करेगा।

सम्राट अनेक अफसरों के सहारे शासन करता था। इन अफसरों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वजीर और **बख्शी** होते थे। वजीर लगान वसूल करने के प्रबंध की और बख्शी सेना के प्रबंध की देखभाल करता था। इस प्रकार इन अधिकारियों का महत्त्व तो था पर इनमें से कोई भी प्रशासन पर पूर्ण अधिकार नहीं रखता था। इनके होते हुए भी सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति सम्राट ही होता था। खानसामा बादशाह के घरेलू प्रबंध की देखभाल के लिए रहता था। न्यायाधीशों में सबसे ऊँचा स्थान प्रमुख काजी का था। एक अन्य अधिकारी बादशाह और उसके परिवार के सदस्यों द्वारा दिए गए दान का हिसाब रखता था।

वजीर और बख्शी के नीचे काम करने वाले अनेक अधिकारी थे। केन्द्रीय शासक

को साम्राज्य में होने वाले सभी कार्यों का पूर्ण ज्ञान रहता था। सम्राट दूसरों से भी राय लेता था। प्रायः वह उनको दीवाने-खास या अपने राजमहल में आमंत्रित करता था और उनके साथ विचार-विमर्श करता था। दीवाने-आम में वह अपनी प्रजा के सामने उपस्थित होता था जहाँ हर एक व्यक्ति उससे मिल सकता था। वह अपने राजमहल के झरोखे पर भी आता था जिसके नीचे से सामान्य जनता उसका दर्शन कर सकती थी।

मुगल साम्राज्य बहुत-से सूबों या प्रांतों में बँटा हुआ था। सूबों की शासन प्रणाली वैसी ही थी जैसी राजधानी की। अकबर के शासनकाल में मुगल साम्राज्य पंद्रह सूबों में विभाजित था। प्रत्येक सूबा बहुत-सी सरकारों में बँटा हुआ था और प्रत्येक सरकार बहुत-से परगनों में विभाजित थी। कई गाँवों के एक समुदाय से एक परगना बनता था। सूबे में सूबेदार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था जो अन्य अधिकारियों की सहायता से सूबे के प्रशासन की देखभाल करता था। दीवान भूमि के लगान का लेखा रखता था। बख्शी नियमित रूप से राजधानी को सूचनाएँ भेजता था और सूबे में सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। एक अन्य अधिकारी भी था जिसके नाम से आज भी उत्तर भारत के कस्बों और गाँवों में लोग परिचित हैं। यह कोतवाल होता था जिसके अधिकार में नगर का प्रशासन रहता था। पुलिस स्टेशनों को अब भी कहीं-कहीं कोतवाली कहा जाता है। अपराधियों को पकड़ने का उत्तरदायित्व कोतवाल पर था। वह व्यापारियों के द्वारा नाप-तोल में प्रयोग किए जाने वाले बाटों की भी देखभाल करता था जिससे वे किसी को धोखा नहीं दे सकते थे। कोतवाल का दूसरा काम पड़ोस के सभी व्यक्तियों का नाम एक रजिस्टर में दर्ज करना था। वह विदेश से आनेवाले यात्रियों का नाम भी लिखता था। इस प्रकार वह जनगणना अधिकारी का कार्य भी करता था।

अकबर ने यह अनुभव किया कि यदि कोई अधिकारी एक ही नौकरी में या एक ही स्थान पर अधिक समय तक रहता तो वह बड़ा शक्तिशाली हो जाता था और अपने नीचे रहने वाले लोगों पर अत्याचार करने लगता था। इसलिए वह इस पर विशेष जोर देता था कि कोई अधिकारी एक ही स्थान पर बहुत अधिक समय तक रह चुका हो तो उसको स्थानांतरित कर दिया जाए। प्राचीनकाल में वजीर और मंत्री बड़े शक्तिशाली थे और वे बहुत-से कार्य जैसा चाहते थे कर सकते थे। अब सम्राट अधिक शक्तिशाली हो गया था।

राज्यों की आमदनी

मुगल राज्य को दो साधनों से धन प्राप्त होता था। एक साधन था भूमि का लगान और दूसरा व्यापार पर कर। बहुत बड़ी मात्रा में धन अधिकारियों के वेतन में व्यय

किया जाता था। बड़े अधिकारियों को ऊँचा वेतन दिया जाता था जिससे वे अपना विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।

यद्यपि अकबर चाहता था कि नकद वेतन दिया जाए पर वास्तव में बहुत-से अधिकारियों को भूमि के लगान का अनुदान मिला था जिसको जागीर कहते हैं। अधिकारी अपनी जागीर से लगान वसूल करते थे जो उनके वेतन के बराबर होता था। चूँकि इन अधिकारियों को लगान के अनुदान से वेतन दिया जाता था अतः यह निश्चित करना आवश्यक हो गया था कि किसी गाँव से कितना लगान वसूल किया जाना चाहिए। इससे सम्राट के लिए अनुदान देना सरल हो जाता था। भूमि के विभिन्न क्षेत्रों की उपज अलग-अलग होती है और समय-समय पर इस उपज में भी अंतर होता रहता है। अतः सरकार के लिए लाभदायक होता है कि लगान का बंदोबस्त समय-समय पर किया जाए। अकबर चाहता था कि उसको साम्राज्य की उपज और उससे वसूल किए जाने वाले लगान का विस्तृत विवरण दिया जाए। सरकार को भेजे जाने वाले लगान की जाँच के लिए भी इसकी आवश्यकता थी। राज्य उपज का एक तिहाई भाग लगान के रूप में वसूल करता था। राज्य लगान को धन के रूप में प्राप्त करना अधिक पसंद करता था। राजा टोडरमल से भूमि के लगान का लेखा बनाने के लिए कहा गया। जब यह कार्य कर लिया गया तब इसका लेखा बहुत सावधानी से रखा गया। अकबर ने इस बात पर बड़ा जोर दिया कि इस हिसाब को सदैव तैयार रखा जाए। इस बंदोबस्त से किसानों को भी बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। अब वे यह जान सकते थे कि अपनी उपज का कितना भाग उनको अपने पास रखना है और कितना राज्य को देना है।

व्यापार से इतना कर नहीं प्राप्त होता था जितना भूमि से लगान। किन्तु गुजरात और बंगाल जैसे क्षेत्रों में जहाँ व्यापार की बड़ी उन्नति हो रही थी इस व्यापार-कर से सूबे बहुत धनवान बन गए। व्यापारियों के ऊँटों के काफिले और उनकी बैलगाड़ियाँ देश के अंदर सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती थीं। कुछ व्यापारी देश की सीमा को पार करके अपना सामान मध्य एशिया, फारस और रूस तक ले जाते थे। समुद्र पार व्यापार की मुगल काल में बड़ी उन्नति हुई। भारत के समुद्र तट पर बहुत बड़े-बड़े बंदरगाह थे। भारत के व्यापारी कपड़े, नील, शोरा और मसाले दूसरे देशों को भेजते थे।

सामुद्रिक व्यापार के संबंध में बहुत से यूरोप निवासी अकबर के दरबार में आए। पुर्तगालियों ने पहले ही अपने व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना कर ली थी और वे भारत के पश्चिमी समुद्र तट के व्यापारियों के साथ व्यापार करते थे। इंग्लैंड के व्यापारी पुर्तगालियों के इस व्यापार से होने वाले लाभ को देखकर उनसे ईर्ष्या करते थे। इसलिए उन्होंने कुछ व्यापारियों को अकबर के दरबार में इस उद्देश्य से भेजा कि वे उन्हीं स्थानों पर व्यापार करने की आज्ञा

प्राप्त करें जिन स्थानों पर पुर्तगाली व्यापार करते थे। पर अकबर यूरोप के इतने अधिक व्यापारियों को अनुमति प्रदान करने के लिए तैयार न था।

साहित्य और ललित कलाएँ

अकबर ने कभी पढ़ना-लिखना नहीं सीखा था पर वह श्रेष्ठ पुस्तकों से परिचित था और अपने को शिक्षित बनाने में उसने अपना बहुत-सा समय व्यतीत किया। उसने अनेक पुस्तकें पढ़वाकर सुनीं और सभी प्रकार के दार्शनिकों, विद्वानों और लेखकों के साथ विचारविमर्श किया। उसको काव्य में भी विशेष रुचि थी और वह बहुत-सी कविताओं को उद्धृत कर सकता था। प्राकृतिक विज्ञान में उसकी रुचि न थी। यह भारत का दुर्भाग्य था क्योंकि यदि उसने रिनैसाँ के विचारों में या पुर्तगालियों की टेक्नॉलॉजी में दिलचस्पी ली होती तो भारत में और अधिक शीघ्रता से विज्ञान का विकास हुआ होता।

उसके दो घनिष्ठ मित्र जिनसे वह बहुधा तर्क-वितर्क करता रहता था, दो भाई अबुलफजल और फैजी थे। अबुलफजल ने 'अकबरनामा' (अकबर का जीवन चरित्र) नामक पुस्तक की रचना की। 'आइने अकबरी' इसी पुस्तक का एक भाग है। इस भाग में साम्राज्य के नियम, कानून और लगान व्यवस्था का विवेचन किया गया है। इसमें उस काल की देश की दशा का भी वर्णन किया गया है। फैजी एक कवि था और वह फारसी भाषा में कविता लिखता था। मुगल साम्राज्य की राजभाषा फारसी थी। इसीलिए बहुत से शिक्षित व्यक्ति और विशेषकर वे लोग जो प्रशासन में कार्य करते थे फारसी भाषा जानते थे। अकबर और उसके मित्रों ने संस्कृत के प्रमुख ग्रंथों का फारसी में अनुवाद करने को प्रोत्साहन दिया। इस काल में संपूर्ण 'महाभारत' और 'रामायण' का फारसी में अनुवाद किया गया और अबुलफजल ने इन अनुवादों की भूमिका लिखी। कुछ विद्वानों ने संस्कृत में कई सुल्तानों के जीवन चरित्र लिखे और उनको उन सुल्तानों से इन रचनाओं के लिए बहुत-से पुरस्कार और अनुदान प्राप्त हुए

इसी काल में बहुत-से कवियों ने हिन्दी में काव्य रचना आरंभ की। बल्लभाचार्य, केशवदास और रहीम उनमें प्रमुख थे। रहीम के दोहे आज भी पढ़े जाते हैं। तुलसी की रचना और अधिक महत्त्वपूर्ण थी। उन्होंने रामायण की कथा लिखी और उसका नाम 'रामचरितमानस' रखा। तुलसी का काव्य हिन्दी भाषी जनसमुदाय में बहुत लोकप्रिय हुआ।

अबुलफजल और फैजी के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति जो प्रायः अकबर के दरबार में देखा जाता था, प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन था। उसने अनेक रागों की गायन शैली में नवीनता का समावेश करके भारतीय संगीत को समृद्ध किया। राग दरबारी इन रागों में बहुत लोकप्रिय था जिसके संबंध में कहा जाता है कि तानसेन ने उसकी रचना विशेष

रूप से अकबर के लिए की थी। इस काल तक भारतीय संगीत में फारस की संगीत कला की बहुत-सी विशेषताएँ आ गई थीं।

अकबर के दरबार में बहुत-से चित्रकार भी थे जो उसके पुस्तकालय और पुस्तकों को सजाने के लिए छोटे आकार के चित्र (लधु चित्र) बनाते थे। ये चित्रकार भारत और फारस की मिश्रित शैली में चित्र रचना करते थे। वे जिन रंगों का प्रयोग करते थे वे विशेषत: भारतीय थे और उनके चित्रों की कोमलता और बारीकी विशेष रूप से फारसी शैली की थी। बहुत-से चित्रकार नीची जाति के हिन्दू थे पर इसमें सम्राट को किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती थी। इनमें से कुछ ने अपने चित्रों पर हस्ताक्षर कर दिए हैं अत: हम उनके नाम भी जानते हैं। लेकिन कभी-कभी किसी चित्र का अंकन चित्रकारों का एक समुदाय करता था। ये चित्रकार भारत के विभिन्न भागों—गुजरात, कश्मीर और दक्षिण भारत आदि से आते थे और इन क्षेत्रों की स्थानीय शैलियों का प्रभाव इन चित्रों में परिलक्षित होता है। जब ये चित्रकार किसी पुस्तक को सजाने के लिए चित्र नहीं बनाते थे तब वे प्राय: भारत और फारस की लोककथाओं के दृष्यों का चित्रण करते थे। उदाहरण के लिए वे कृष्ण की लीलाओं या लैला मजनूँ की प्रेमकथा के दृश्यों का चित्रण करते थे। पर अकबर के दरबार के बहुत-से चित्रों का संबंध अकबर के जीवन और उसके दरबार की घटनाओं से था।

अब पुस्तकें ताड़ के पत्तों या वृक्षों की छालों पर नहीं लिखी जाती थीं बल्कि कागज पर लिखी जाती थीं। कागज़ का आविष्कार चीन में हुआ और पश्चिमी एशिया में उसका निर्यात होता था। चौदहवीं शताब्दी तक भारतीय व्यापारी भी कागज का आयात करने लगे थे और बाद में वह भारत में भी बनाया जाने लगा था। इस काल में भी भारत में पुस्तकें हाथ से ही लिखी जाती थीं यद्यपि चीन और यूरोप में छापेखाने का आविष्कार किया जा चुका था और उसका प्रयोग भी किया जाता था। हाथ से पुस्तकों को लिखने में बड़ा समय लगता था अत: उतनी संख्या में पुस्तकें नहीं तैयार की जाती थीं जितनी संख्या में छापेखाने से। फारसी की पुस्तकें नास्तालिक जैसी विभिन्न प्रकार की सुंदर फारसी लिपियों में लिखी जाती थीं। हिन्दी और संस्कृत की पुस्तकों के लिखने में सामान्यतया देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता था।

वास्तुकला

दिल्ली और आगरा में अकबर का दरबार लगता था। पर अकबर ने अपनी राजधानी बनाने के लिए एक नए नगर के निर्माण का निश्चय किया। यह आगरा के निकट फतेहपुर सीकरी था। इसी स्थान पर सूफी महात्मा शेख सलीम चिश्ती रहता था और अकबर उसका बड़ा आदर करता था। इसी कारण उसने इस स्थान पर अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया। उसने यहाँ पर लाल पत्थर से शानदार राजमहल और मंडप बनवाए। फतेहपुर सीकरी की

वास्तुकला में फारस, मध्य एशिया तथा भारत की विभिन्न शैलियों का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यही बात दिल्ली में अपने पिता हुमायूँ के लिए अकबर द्वारा बनवाए गए मकबरे के संबंध में भी सही है। यह सल्तनत काल में बनवाए गए मकबरों से केवल अपनी भवन निर्माण-शैली, जिसमें भारतीय शैली की अनेक विशेषताएँ हैं, में ही भिन्न नहीं है बल्कि इस कारण भी भिन्न है कि इसका निर्माण एक विस्तृत क्षेत्र में बनवाए गए बाग के बीच में किया गया है। संपूर्ण क्षेत्र में प्रवेश करने का मार्ग एक विशाल फाटक से होकर है जो स्वयं एक स्मारक है। मुगल शैली के बने सभी मकबरों में एक फाटक और एक बाग होता है।

इस काल की मुगल वास्तुकला ने आरंभिक भारतीय शैली की अनेक विशेषताएँ ग्रहण कीं, जैसे प्रवेश द्वारों पर वर्गाकार ब्रैकेट अथवा गुफाओं की डिजाइन इत्यादि। साथ ही साथ इस मुगल कला का प्रभाव हिन्दू राजाओं के राजमहलों और मंदिरों की निर्माण कला पर भी पड़ा। अनेक राजपूत राजाओं के महलों पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। वृंदावन का गोविन्द देव मंदिर, इस कारण कि वह लाल पत्थर का बना है और उसमें यह मिश्रित शैली स्पष्ट है, आसानी से पहचाना जा सकता है।

अकबर की धार्मिक नीति

फतेहपुर सीकरी की एक इमारत का नाम इबादतखाना था। इसी स्थान पर
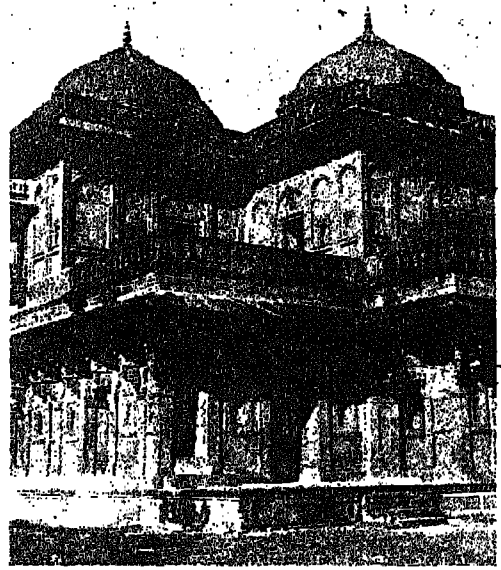
फतेहपुर सीकरी में बीरबल की पुत्री का महल

अकबर विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों पर विचारविमर्श करवाता था। अकबर को धर्म की समस्याओं में विशेष रुचि थी। वह अनुभव करता था कि प्रत्येक धर्म ईश्वर की ओर संकेत करता है। अतः उसे आश्चर्य होता था कि सभी धर्मों के मानने वालों के लिए यह संभव क्यों नहीं था कि वे परस्पर मिल-जुलकर शांतिपूर्वक रहें। वह ऐसा मार्ग खोजना चाहता था जो सभी धर्मों की विशेषताओं से पूर्ण हो और जो सभी धर्मों के अनुयायियों में परस्पर प्रेम भाव उत्पन्न कर सके। इसलिए उसने सभी धर्मों और संप्रदायों के आचार्यों को आमंत्रित किया कि वे आकर उसके साथ धर्म पर विचार-विमर्श करें।

इबादतखाने में सबसे पहले इस्लाम धर्म के आचार्य आए। बाद में हिन्दू, फारसी,

जैन और ईसाइयों को भी सम्राट के साथ विचारविमर्श के लिए आमंत्रित किया गया। पुर्तगाली गवर्नर ने सम्राट को ईसाई बनाने के उद्देश्य से अपने पादरी भेजे। पर उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई। सम्राट ने उनको इसलिए आमंत्रित किया था कि उसको ईसाई धर्म की शिक्षाओं को समझने में रुचि थी न कि उसका ईसाई बन जाने का कोई इरादा रहा हो। वास्तव में इस्लाम धर्म के कुछ उपदेशक अकबर को अन्य धर्मों का इतना सम्मान करते देखकर विचलित हो गए थे।
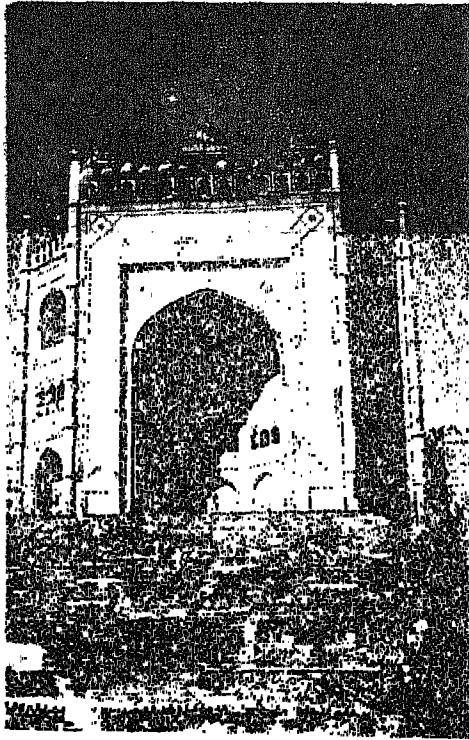
फतेहपुर सीकरी का बुलंद दरवाजा

अन्त में इतने अधिक विचारविमर्श के बाद अकबर ने निश्चय किया कि उसने एक मार्ग पा लिया है। उसने अपना कोई धर्म नहीं चलाया। उसने केवल एक नए धार्मिक मार्ग का सुझाव दिया। वह सब धर्मों के सामान्य सत्यों पर आधारित था और इसमें सब धर्मों के कुछ सिद्धांतों का समावेश कर दिया गया था। बाद में यही धार्मिक मार्ग **दीन-ए-इलाही** कहलाया जिसका तात्पर्य था एक ईश्वर का धर्म।

सबसे पहले अकबर ने इस बात की घोषणा की कि वह अपनी प्रजा का आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक है। फिर उसने एक धार्मिक मार्ग के नियमों का वर्णन किया। उसने शांति और सहिष्णुता की भावना को प्रोत्साहन दिया। उसने जीव-हिंसा की भावना का विरोध किया और सुझाव दिया कि कम-से-कम वर्ष के एक निश्चित समय में लोगों को मांस खाना बंद रखना चाहिए। उसने कठोर दंड देने की प्रथा को उचित नहीं माना और अपराधियों के अंग-भंग करने के दंड को भी वह उचित नहीं समझता था क्योंकि उसकी धारणा थी कि अंग-भंग करने से अधिक अच्छा अपराधी को उसके अपराध का अनुभव करा देना है। पति की मृत्यु पर स्त्रियों के सती होने की प्रथा का वह घोर विरोध करता था। उसने अपनी प्रजा में सूर्य, अग्नि और प्रकाश को आदर-सम्मान देने की भावना का समावेश किया। जिन्होंने सम्राट को अपना आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक मान लिया उन्होंने यह शपथ ली कि वे सम्राट के

लिए अपनी संपत्ति, अपने सम्मान और अपने धर्म का उत्सर्ग कर देने को तत्पर रहेंगे।

दरबार के सभी लोगों ने अकबर के आध्यात्मिक नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया। कुछ सरदार जैसे बीरबल, जो अकबर को बहुत प्रिय था, उसके सच्चे अनुयायी बन गए। अन्य ने केवल सम्राट को प्रसन्न करने के लिए ऐसा किया। राजा मानसिंह जैसे कुछ लोग और भी थे जिन्होंने इस सबका विरोध किया और स्पष्ट रूप से अपने विचारों को व्यक्त कर दिया। अकबर ने उनके भी धार्मिक विचारों का सम्मान किया और उनको अपना धर्म मानने के लिए बाध्य नहीं किया। कुछ मुसलमान सरदार बहुत चिन्तित हो गए क्योंकि वे समझते थे कि अकबर इस्लाम धर्म को नष्ट करना चाहता है। अपने नए धर्म की घोषणा करके अकबर किसी धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर रहा था। वह केवल देश में एकता स्थापित करने के लिए उत्सुक था। उसका दीने-ए-इलाही भारत के निवासियों में एकता उत्पन्न करने का ही एक प्रयत्न था।

अकबर को एक महान् सम्राट इसलिए नहीं कहा जाता कि उसने एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया बल्कि इसलिए कि उसको अपने राज्य और अपनी प्रजा का बड़ा ध्यान रहता था। वह समझता था कि शासक प्रजा का संरक्षक होता है। अतः उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा की भलाई के लिए कार्य करे। अनेक दृष्टिकोणों से अकबर के शासन संबंधी विचार बहुत कुछ वे ही थे जो सम्राट अशोक के थे। अपनी एक राजघोषणा में अशोक कहता है, सभी मनुष्य मेरे बच्चे हैं। यदि अकबर को इसका पता होता तो वह भी इसको स्वीकार करता। भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना अकबर का महान् स्वप्न था। वह चाहता था कि लोग अपने क्षेत्रीय और धार्मिक भेद भाव को भूल जाएँ और सभी अपने को केवल भारत का नागरिक समझें। अपने शासनकाल में वह कुछ सीमा तक अपने इस उद्देश्य में सफल हुआ। यह दुर्भाग्य था कि उसके उच्चाधिकारियों ने उसकी इस नीति का सदैव अनुसरण नहीं किया। अकबर का यह भी विश्वास था कि यदि लोग उसके नवीन धार्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें तो देश में एकता और शांति हो जाए। उसकी विचारधारा की यही कमजोरी थी। एकता और शांति तभी हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति उस पर विश्वास करे और उसके लिए प्रयत्नशील रहे। केवल एक व्यक्ति के प्रयत्न से चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो, न एकता उत्पन्न हो सकती है और न शांति की स्थापना ही की जा सकती है।

अकबर में एक बड़ा भारी गुण था। वह गुण था उसकी निर्भीकता। जब वह क्रोधित हाथियों पर सवारी करके उनको पालतू बनाता था या जब वह वर्षा की बढ़ी हुई नदियों को तैर कर पार करता था तब उसका महान् साहस दिखलाई पड़ता था। उसने उस समय भी अपने महान् साहस का
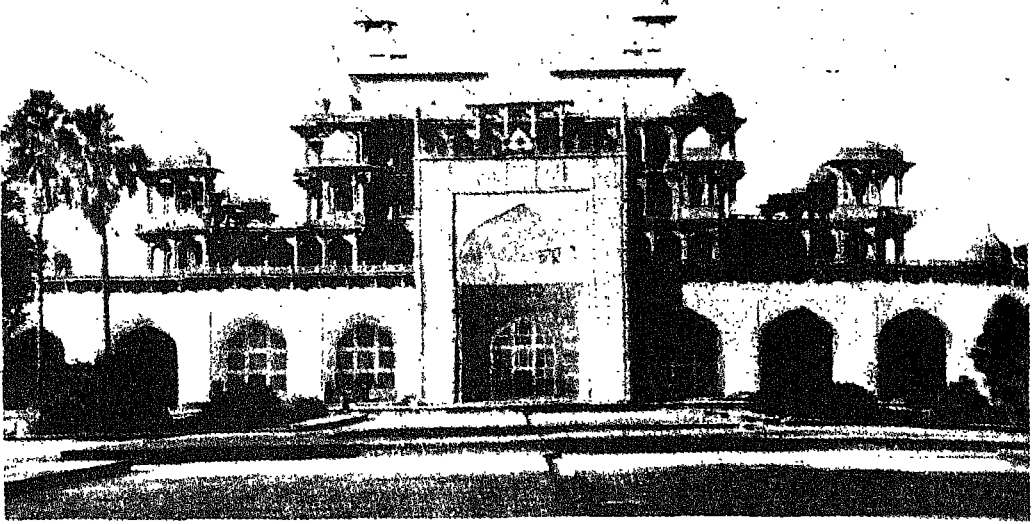
सिकन्दरा में अकबर का मकबरा

प्रदर्शन किया जब उसने उन व्यक्तियों का विरोध किया जो अपनी शक्ति का प्रयोग नए विचारों का प्रचार और भारतीय समाज और विचारधारा में होने वाले परिवर्तनों को रोकने में कर रहे थे। उसकी निर्भीकता की जड़ें उसकी ईमानदारी के ऊपर जमी हुई थीं और यह उसका एक अद्भुत गुण था जो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र में नहीं मिलता।

सन् 1605 ई० में अकबर की मृत्यु होने पर उसे उसी मकबरे में दफनाया गया जिसको उसने आगरे के निकट सिकंदरा में स्वयं अपने लिए बनवाना आरंभ किया था। उसका मकबरा उसके महान् व्यक्तित्व का प्रतीक है। यह मकबरा सीधासादा किन्तु प्रभावित करने वाला है।

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **मनसबदार**—मनसब का अर्थ है पद। मनसबदार सम्राट की आज्ञा के अनुसार नागरिक और सैनिक कार्यों की देखभाल करता था। उसके अधिकार में कुछ सैनिक रहते थे। इन्हीं सैनिकों की संख्या के अनुसार उसका पद और वेतन निश्चित किया जाता था। यह पद परंपरागत नहीं थे। उसको भूमि के लगान के अनुदान के द्वारा वेतन दिया जाता था।
2. **बख्शी**—सैनिक व्यवस्था को देखने वाला अधिकारी।

3. **कोतवाल**—नगर प्रशासन की देखभाल करने वाला अधिकारी।
4. **दीन-ए-इलाही**—अकबर के द्वारा चलाया गया धार्मिक मार्ग। दीन-ए-इलाही का अर्थ है एक ईश्वर की उपासना का धर्म।

II. स्तभ 'अ' कथन का स्तंभ 'आ' में दिए गए कथन से सही संबंध स्थापित कीजिए:

अ	आ
1. बंगाल में	1. और वे उसका पश्चिम एशिया में निर्यात करते थे।
2. मुगल साम्राज्य बहुत-से	2. इबादतखाना कहलाता है।
3. चीन के निवासियों ने कागज़ का आविष्कार किया	3. कि भारत एक राष्ट्र के रूप संगठित हो जाए।
4. फतेहपुर सीकरी के भवनों में से एक भवन	4. दक्षिण पूर्वी एशिया और चीन से व्यापारी आते थे।
5. अकबर का महान् स्वप्न था	5. सूबों ग्रा प्रांतों में विभाजित था।

III. नीचे लिखे हुए वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति उनके सामने कोष्ठकों में दिए सही शब्द समूहों से करो:

1. ....के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिए विशेष रूप से इच्छुक था। (हुमायूँ, बाबर, अकबर, मुगलों, अफगानों, राजपूतों)
2. राजस्थान के दो प्रमुख दुर्गों—रणथंभौर और चित्तौड़ पर................ने अधिकार कर लिया। (लोदी, अफगानों, मुगलों)
3. अकबर के शासन-काल में................साम्राज्य................में................नदी तक फैला हुआ था। (अफगान, बहमनी, मुगल, दक्षिण-उत्तर भारत, पूर्वी भारत, यमुना, नर्मदा, गोदावरी)
4. ....ने फतेहपुर सीकरी में................पत्थर के शानदार राजमहल और गुँबद बनवाए। (बाबर, जहाँगीर, अकबर, काले, लाल, सफेद)
5. अनेक प्रकार से................की शासन-प्रणाली के वे ही सिद्धांत थे जो................ के थे। (हुमायूँ, शेरशाह, अकबर, चंद्रगुप्त, अशोक)

IV. नीचे दिए हुए कथनों में जो सही हों उनके सामने 'हाँ' और जो सही न हों उनके सामने 'नहीं' लिखो:

1. हुमायूँ को उत्तर भारत में मुगल राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए समय नहीं मिला।
2. अकबर ने भारत को एक राष्ट्र समझा और सारे देश पर नियंत्रण करने के लिए कार्य किया।
3. न्यायाधीशों में काजी का सबसे निम्न स्थान था।

4. अकबर ने अपने साम्राज्य की भूमि के लगान का विस्तृत लेखा प्राप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया।
5. धर्म में अकबर की बड़ी रुचि थी।

V. नीचे दिए प्रश्नों का उत्तर दो:

1. अकबर ने मुगल साम्राज्य का संगठन किस प्रकार किया?
2. अकबर ने अपने प्रशासन में कौन-से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए?
3. मुगल साम्राज्य की आय के कौन-से प्रमुख साधन थे? अकबर ने लगान वसूल करने की प्रथा में कैसे सुधार किए?
4. इस काल की वास्तुकला की कौन-कौन-सी विशेषताएँ थीं?
5. अकबर ने नए धर्म की स्थापना करने का क्यों निश्चय किया और उसका क्या परिणाम हुआ?

VI. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. मुगल काल के लघु चित्रों की एक पुस्तक खोजो और उस चित्र के दृश्य का वर्णन करो जो तुमको सबसे अधिक अच्छा लगता हो।
2. अकबर के शासन-काल के सूबों की सूची बनाओ और यह पता लगाओ कि उनमें से कितने सूबों के नाम भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी प्रचलित हैं।

अध्याय 8

वैभव विलास का युग

अकबर का शासनकाल मुगल वंश के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण था क्योंकि उसने बड़ी योग्यता से अपने साम्राज्य का संगठन किया और बड़े कौशल से उसको व्यवस्थित किया। इससे उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर और बाद के दो शासकों शाहजहाँ और औरंगजेब को अपना शासन आरंभ करने में अच्छी सुविधाएँ मिलीं। इन तीनों बादशाहों के शासनकाल में साम्राज्य के क्षेत्र का विस्तार बढ़ा और उसके लगान में भी वृद्धि हुई। दरबार का जीवन बड़ा विलासितापूर्ण रहा। नए फैशन का आरंभ दरबार से ही होता था। केवल धनवान व्यक्ति ही समाज के नेता नहीं थे बल्कि विभिन्न बौद्धिक और सामाजिक रुचि वाले लोग भी थे। भारत में सत्रहवीं शताब्दी वास्तव में वैभव-विलास का युग था।

जहाँगीर

जैसा कि प्राय: सभी राज परिवारों के शहजादों के साथ होता था जहाँगीर को भी युवावस्था में अवध और बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया जिससे कि उसको प्रशासन का कुछ अनुभव प्राप्त हो। सन् 1605 ई० में अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर बादशाह हुआ। जहाँगीर अपने व्यक्तित्व में अपने पिता से बिल्कुल भिन्न था। अकबर की भाँति वह भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों में रुचि रखता था पर अपने पिता की भाँति उसने धार्मिक समस्याओं का गंभीरता से अध्ययन नहीं किया। उसके पास अपने पिता के समान कुशाग्र बुद्धि भी न थी। किन्तु वह साहित्य में रुचि रखता था और उसका अध्ययन अच्छा था। उसने अपने संस्मरण 'तुजुके जहाँगीरी' स्वंय लिखे जिसमें उसकी सुंदर फारसी की शैली देखी जा सकती है। इन संस्मरणों में हमको जहाँगीर का व्यक्तित्व भी देखने को मिलता है और उसके शासनकाल की अनेक सूचनाएँ भी। उसको चित्रकला का अच्छा ज्ञान था और उसको अपने दरबार के श्रेष्ठ चित्रकारों पर गर्व भी था।
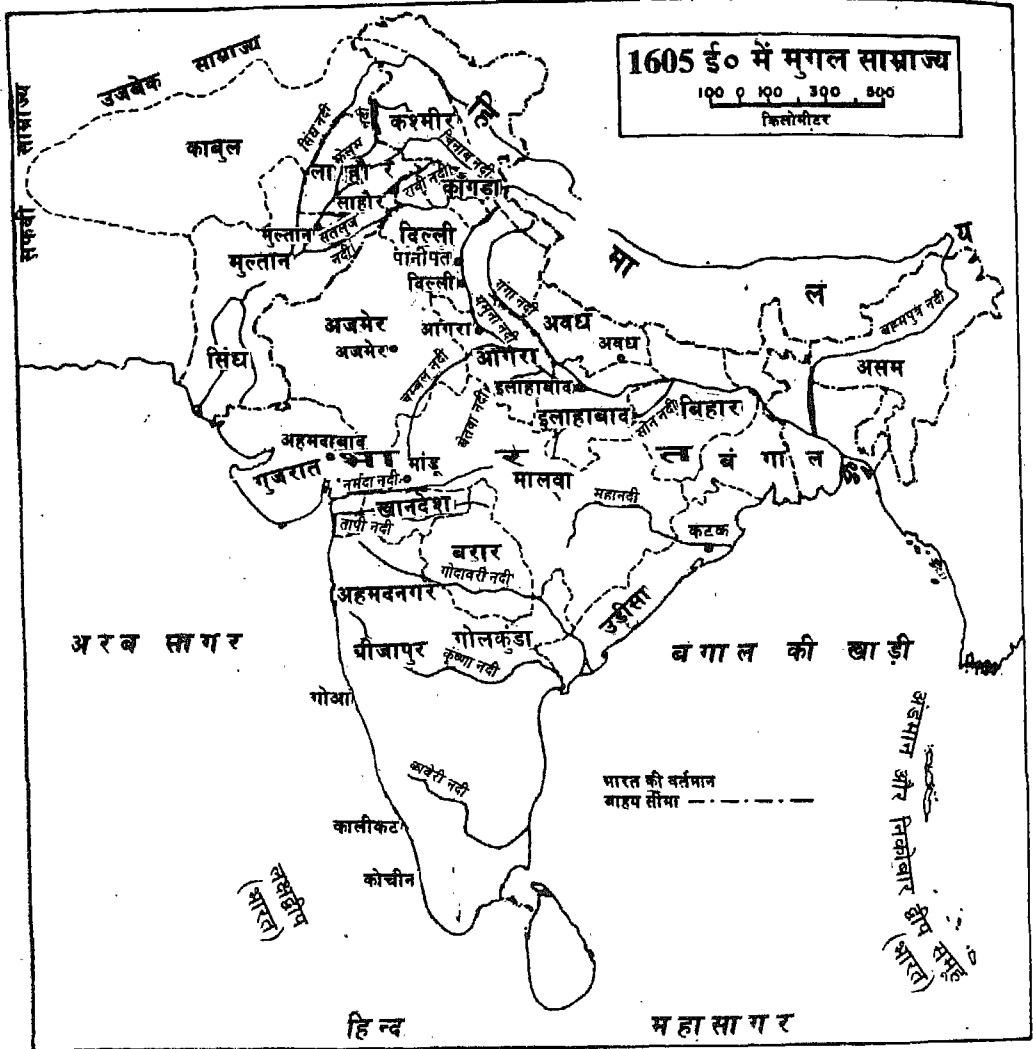
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

सन् 1611 में जहाँगीर ने नूरजहाँ से विवाह किया। वह एक सुंदर और बुद्धिमान स्त्री थी। उसने राज दरबार के लिए केवल फैशन और आचार-विचार ही नहीं निर्धारित किए बल्कि वह राज्य प्रशासन में भी रुचि रखती थी। जहाँगीर बहुत समय तक बीमार रहा। इस बीच में उसने ही उसके कार्य को सँभाला और साम्राज्य का प्रबंध चलाया। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में

जहांगीर का सिक्का

जहाँगीर उसकी राय लिया करता था। अंत में वह इतनी शक्तिशाली हो गई कि राज्य के सिक्कों में जहाँगीर के नाम के साथ उसका नाम भी लिखा जाने लगा।

बाद के मुगल शासकों के शासनकाल की तुलना में जहाँगीर का शासनकाल सामान्यतः शांतिपूर्ण था। इस काल में अधिक युद्ध नहीं हुए। जहाँगीर ने बंगाल पर मुगलों के अधिकार को शक्तिशाली बनाया। अकबर का मेवाड़ के महाराणा से आरंभ में जो संघर्ष हुआ था उसको समाप्त कर दिया गया। जहाँगीर ने राजपूतों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने की अपने पिता की नीति जारी रखी। उसने स्वयं अपना विवाह जोधाबाई और मानबाई जैसी राजपूत राजकुमारियों के साथ किया। उसने पंजाब की पहाड़ियों पर एक सेना भेजी और कांगड़ा को जीत लिया। अहमदनगर राज्य के साथ संघर्ष परेशानी का कारण बना हुआ था। इस संघर्ष को समाप्त कर दिया गया। भारत के विभिन्न भागों पर किए गए इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से छोटे अफगान सरदारों को, जो मुगल शासन की अधीनता नहीं स्वीकार करते थे, ऐसा करने के लिए विवश कर दिया गया। इस प्रकार उसने साम्राज्य को शक्तिशाली बनाया।

पर जहाँगीर की कठिनाइयों का अंत नहीं हुआ। अफगानिस्तान में कंधार के प्रांत को फारस के बादशाह ने जीत लिया। इससे साम्राज्य की गंभीर हानि हुई क्योंकि भारत के पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार में कंधार नगर का बहुत बड़ा महत्त्व था। इसके अतिरिक्त जब तक कंधार मुगलों के अधिकार में था, वे पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया से अपनी रक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकते थे। जहाँगीर के सामने उसके पुत्र शाहजहाँ ने भी कठिनाई उत्पन्न की। उसने जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। शाहजहाँ को इस बात की चिन्ता हुई कि कहीं उसके भाइयों में से कोई दूसरा जहाँगीर का उत्तराधिकारी न बना दिया जाए। इसलिए उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करके यह सिद्ध करने का निश्चय

किया कि वह सबसे अधिक शीक्तशाली है। जहाँगीर को अपने पुत्र पर नियंत्रण रखने में बड़ी कठिनाई हुई। फिर कुछ कठिनाइयाँ पुर्तगालियों के द्वारा भी उपस्थित की गईं। भारत के व्यापार से बड़ा लाभ प्राप्त करके भी पुर्तगाली संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने समुद्री डकैती आरंभ की और वे भारतीय जहाजों पर आक्रमण करने लगे। उन्होंने मुगल राज्य के एक जहाज पर आक्रमण कर दिया। इससे जहाँगीर इतना अधिक नाराज हुआ कि जब तक पुर्तगालियों ने अपनी भूल को स्वीकार नहीं किया तब तक उसने मुगल राज्य के व्यापारियों के साथ उन्हें व्यापार करने की आज्ञा नहीं दी।

इस समय तक अंग्रेजों ने भी भारत के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। पुर्तगालियों ने अंग्रेजों को इस क्षेत्र से दूर रखने का भरसक प्रयत्न किया क्योंकि दोनों एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या की भावना रखते थे। जहाँगीर के शासनकाल में ही इंग्लैंड के बादशाह ने सर टॉमस रो को आगरे के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा। सर टॉमस ने जहाँगीर के साथ एक व्यापारिक संधि करने का प्रयत्न किया पर जहाँगीर इसके लिए राजी न हुआ। सर टॉमस तीन वर्ष तक आगरे में रहा। उसने मुगल दरबार के जीवन का बहुत सजीव वर्णन किया है।

जहांगीर झरोखा-दर्शन देते हुए
(एक पुराने चित्र के आधार पर)

जहाँगीर को उसकी न्याय की जंजीर के लिए अब भी स्मरण किया जाता है। वह चाहता था कि उसके अधिकारी प्रजा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करें। उसने सोने की एक लंबी जंजीर बनवाई जिसमें घंटियाँ बँधी हुई थीं और उसको राजमहल की दीवार से लटका दिया गया। उसने यह घोषणा की कि यदि किसी के साथ सरकार ने अन्यायपर्ण व्यवहार किया हो तो वह इस

जंजीर को खींचकर सरकारी अधिकारी के विरुद्ध अपनी फरियाद सुना सकता है। यह विचार तो बहुत सुंदर था पर प्रश्न तो यह है कि कितने व्यक्तियों ने इस जंजीर को खींचकर किसी राज्याधिकारी के विरुद्ध शिकायत करने का साहस किया होगा।

शाहजहाँ

जब कभी शाहजहाँ के नाम का उल्लेख किया जाता है तब लोगों का ध्यान दो बातों की ओर जाता है। एक ताजमहल और दूसरा तख्ते ताऊस। ताजमहल शाहजहाँ की पत्नी मुमताज की कबर के ऊपर बना हुआ संसार प्रसिद्ध मकबरा है। तख्तेताऊस रत्नों से जड़ा हुआ सोने का सिंहासन था जिस पर शाहजहाँ बैठता था। वह बाद में लूटकर ईरान ले जाया गया। किन्तु शाहजहाँ के शासनकाल में कुछ अन्य घटनाएँ हुईं जिनका मुगल साम्राज्य के इतिहास में अधिक महत्त्व है।

अपने पिता की मृत्यु के बाद सन् 1628 में शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। सबसे पहले उसको बुंदेलखंड और दक्षिण के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। बुंदेलखंड के विद्रोह को तो उसने आसानी से दबा दिया किन्तु

शाहजहां का सिक्का

मुमताज बेगम और शाहजहां का चित्र
(आगरा के ताज संग्रहालय के सौजन्य से)

दक्षिण के विद्रोह को दबाना आसान नहीं था। दक्षिण मुगलों के लिए कठिनाइयों का क्षेत्र बन गया। मुगलों ने अंत में अहमदनगर के राज्य को जीत लिया और गोलकुंडा तथा बीजापुर के राज्यों ने मुगलों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उसके साथ शांति बनाए रखने की संधि कर ली। शाहजहाँ ने अपने पुत्र शाहजादा औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बनाया। औरंगजेब ने गोलकुंडा और बीजापुर के राज्यों को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिलाने का बड़ा प्रयत्न किया पर उसको सफलता न मिली। मुगलों की शक्ति का विरोध करने वाला दूसरा दल मराठों का था। हम उनके संबंध में बाद में अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

दक्षिण की समस्याओं को हल कर लेने के बाद शाहजहाँ का ध्यान उत्तर-पश्चिम की ओर आकर्षित हुआ। उसने उत्तरी-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने के लिए मध्य एशिया के बल्ख और बदख्शाँ को

तख्ते-ताऊस पर बैठे हुए मुगल बादशाह शाहजहां (पुराने चित्र के आधार पर)

ताजमहल, आगरा
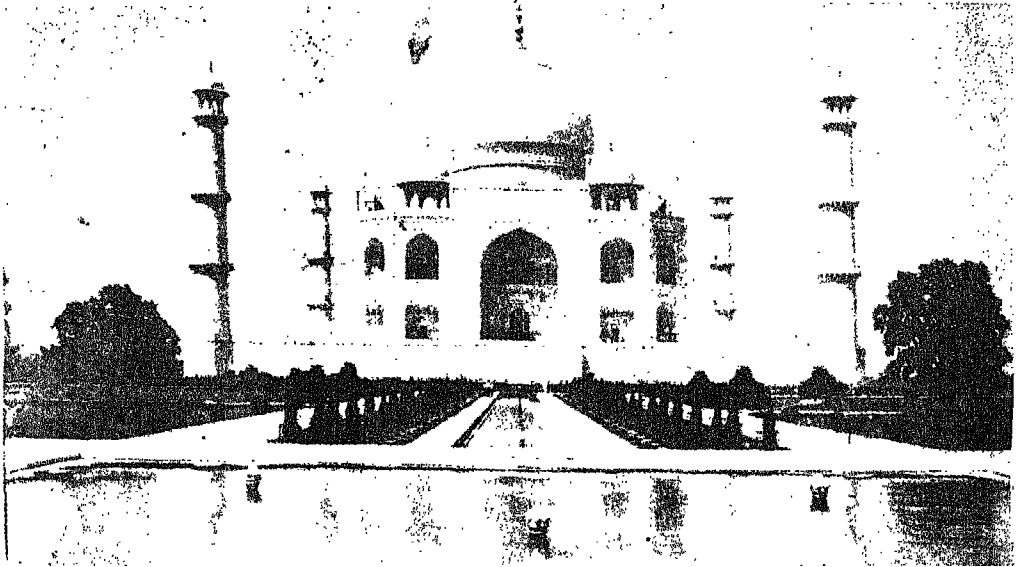
अपनी सेनाएँ भेजीं। शाहजहाँ ने ईरान के बादशाह से कंधार को पुन: जीत लिया था पर वह फिर उसके हाथ से निकल गया। उसने फिर तीन बार उस नगर पर अधिकार करने का प्रयत्न किया पर प्रत्येक बार वह असफल रहा। अंत में उसने प्रयत्न करना छोड़ दिया।

हुगली पुर्तगालियों का उपनिवेश था। शाहजहाँ का वहाँ के पुर्तगालियों से भी संघर्ष हुआ। पुर्तगाली इस स्थान को आधार बनाकर बंगाल की खाड़ी में समुद्री डकैती करते थे। मुगल सेनाओं ने उनको हुगली से बाहर निकाल दिया। फिर वे सेनाएँ उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ीं और उन्होंने असम में कामरूप पर अधिकार कर लिया।

ताजमहल में संगमरमर पर नक्काशी

आगरे का किला
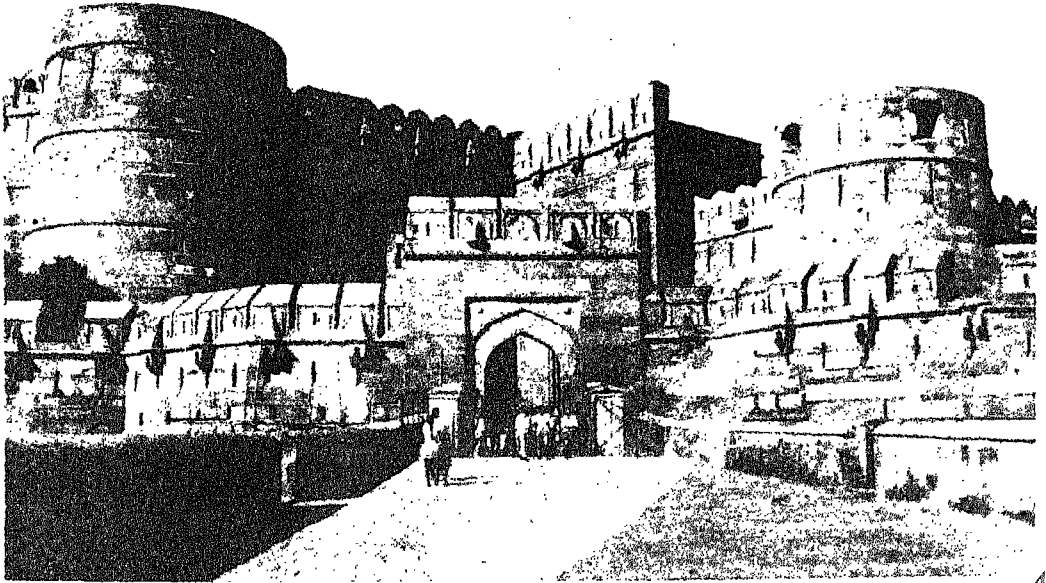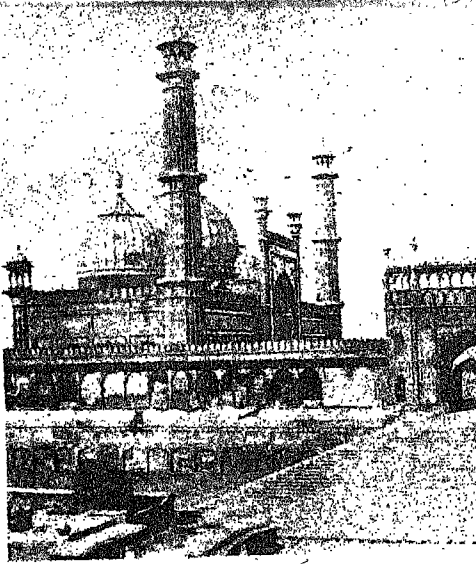
दिल्ली की जामा मस्जिद

इस बीच में शाहजहाँ ने शाहजहानाबाद नामक नगर बसाकर उसको अपनी राजधानी बनाया। आज यह दिल्ली का एक भाग है। शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसके चारों पुत्र सिंहासन प्राप्त करने के लिए परस्पर युद्ध करने लगे। इस युद्ध में औरंगजेब की विजय हुई। उसने अपने पिता को आगरे के किले में कैद कर दिया। इस किले से शाहजहाँ ताजमहल को देख सकता था और अपनी पत्नी मुमताजमहल को याद कर सकता था। जब 1666 ई० में उसकी मृत्यु हो गई तब उसको भी ताजमहल में उसकी पत्नी के बगल में दफना दिया गया।

औरंगजेब

औरंगजेब ने अपने सभी भाइयों को सफलता के साथ पराजित किया और सन् 1658 में सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने लगभग 50 वर्ष तक शासन किया। उसका शासनकाल कठिनाइयों से पूर्ण

आगरे में एतमादुद्दौला का मकबरा
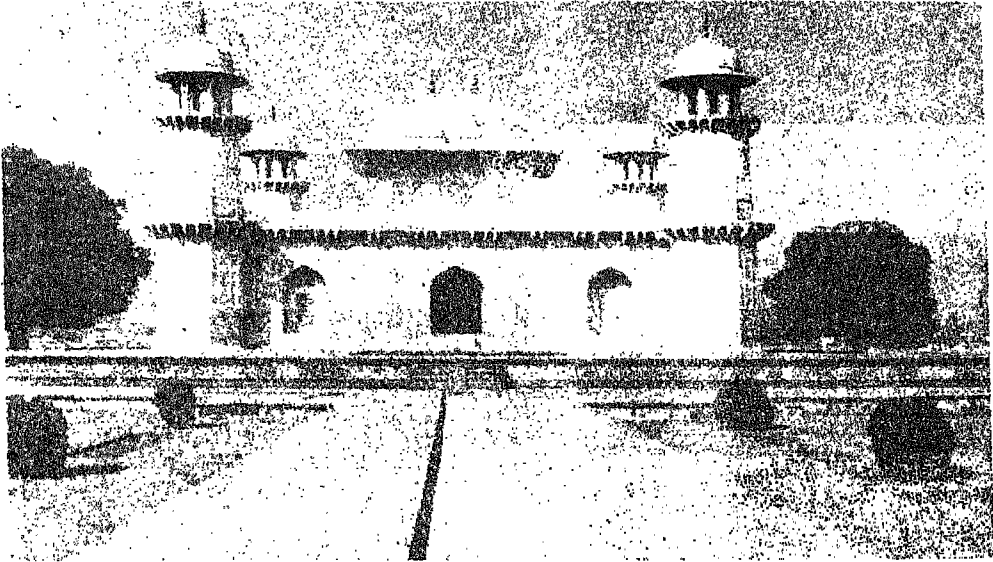
था। औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का सबसे अधिक विस्तार हुआ। वह लगभग संपूर्ण भारत पर शासन करता था।
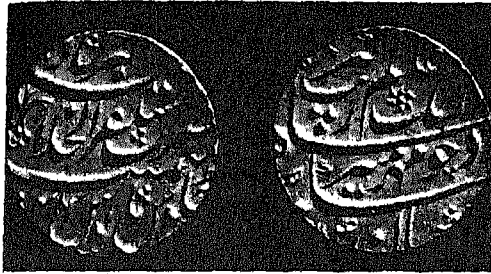
औरंगजेब का सिक्का

पर उसके समय में शासनप्रणाली में अनेक परिवर्तन हो गए थे। अकबर के समय की शासनप्रणाली अब नहीं रह गई थी। उसके साम्राज्य के अनेक भागों में लोगों ने विद्रोह किया इस कारण औरंगजेब की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। इन विद्रोहों को दबाने में उसका बहुत-सा समय लग गया।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा के राज्य वास्तव में कभी भी पूर्ण रूप से मुगल साम्राज्य के अंतर्गत नहीं रहे। औरंगजेब के शासन-काल तक ये राज्य शक्तिहीन हो गए। इस बीच मराठे शक्तिशाली होते जा रहे थे। अतः औरंगजेब को मराठों से गोलकुंडा और बीजापुर की रक्षा करने के लिए अपनी सेनाएँ दक्षिण भेजनी पड़ीं। मराडे दक्षिण में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। अतः वहाँ की समस्याएँ बहुत बढ़ गई थीं।

मराठे

मराठे दक्षिण के राज्यों की अधीनता में रहने वाले छोटे सरदार थे। इनमें से अनेक दक्षिण के राज्यों के और मुगल साम्राज्य के भी अधिकारी थे। जब उन्होंने देखा कि मुगलों के उन राज्यों पर आक्रमण होने लगे तब उन्होंने उन राज्यों का साथ देना छोड़ दिया। कुछ सैनिक एकत्र करके वे दक्षिण के राज्यों के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। पूना और कोंकण के आसपास का क्षेत्र पहाड़ी प्रदेश है। इसी क्षेत्र में मराठे शक्तिशाली थे। यदि उनके विरुद्ध कोई सेना भेजी जाती तो वे पहाड़ियों में छिप जाते थे। इसी कारण वे आसानी से राज्यों का विरोध कर सके। छापामार गुरिल्ला- युद्ध-प्रणाली को अपनाकर वे मुगल सेनाओं को भी परेशान करने में सफल होते रहे। धीरे-धीरे वे इतने शक्तिशाली बन गए कि स्थानीय राज्यों का ही नहीं मुगल साम्राज्य का भी विरोध करने लगे।

शिवाजी सबसे अधिक शक्तिशाली मराठा सरदार था। उसका पिता बीजापुर के शासक के अधीन था और उसकी सेना का अधिकारी था। परंतु शिवाजी महत्त्वाकांक्षी था। बीजापुर को शक्तिहीन होता देखकर उसने अपने को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया। बीजापुर के शासक ने अपने सेनापति अफजल खाँ को उसके विरुद्ध युद्ध करने को भेजा। किन्तु शिवाजी ने उसका वध कर दिया। तब औरंगजेब ने अपने अधिकारी जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह को मराठों की शक्ति

का अनुमान था। इसलिए वह इसके लिए बड़ा उत्सुक था कि मराठों और मुगलों में संधि हो जाए। जयसिंह ने समझा-बुझाकर शिवाजी को राजी कर लिया कि वह उसके साथ औरंगजेब के दरबार में जाए। पर शिवाजी के स्वतंत्र व्यवहार से औरंगजेब असंतुष्ट हो गया और उसने शिवाजी को कैद कर लिया। शिवाजी चालाकी से कैद से बाहर निकल आया। अब उसने मुगलों को परेशान करके अपमानित करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने को मराठा राज्य का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया और सन् 1674 ई० में वह राजसिंहासन पर बैठा। सन् 1680 ई० में अपनी मृत्यु के पूर्व के छः वर्षों में वह शक्तिशाली मराठा राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

शिवाजी यह सफलता दो कारणों से प्राप्त कर सका। पहले तो दक्षिण पर मुगलों
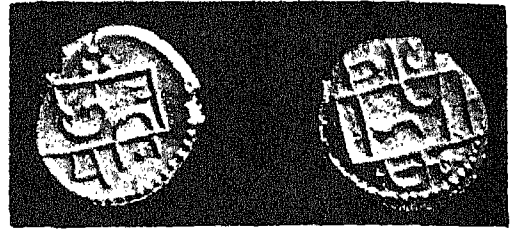
शिवाजी का सिक्का

का नियंत्रण बड़ा कमजोर हो गया था। मुगल शासन न विद्रोहों का दमन कर सकता था और न सरदारों को स्वतंत्र होने से रोक सकता था। दूसरे मराठों ने लगान वसूली की एक ऐसी प्रणाली अपनाई जिससे लगान के रूप में उनको बहुत-सा धन प्राप्त होता था और वे अच्छी सेनाएँ रख सकते थे।

मराठा राज्य का शासन राजा के हाथ में था। राजा को सहायता और मंत्रणा देने के लिए आठ मंत्रियों की एक समिति थी जो **'अष्टप्रधान'** कहलाती थी। राज्य की आय

शिवाजी
(पुराने चित्र के आधार पर)

का मुख्य साधन भूमि-कर था। राज्य को उपज का 2/5 भाग लेने का अधिकार था पर हम नहीं कह सकते कि वास्तव में किसानों से कितना वसूल किया जाता था। इस नियम से लगान उन किसानों से वसूल किया जाता था जो मराठा राज्य में रहते थे। जो मराठा राज्य के बाहर मुगल साम्राज्य या दक्षिण के राज्यों में रहते थे उनसे मराठा सरकार दो प्रकार के कर वसूल करती थी। एक कर **'चौथ'** कहलाता था। यह उस कर का चौथाई भाग था जो किसान दक्षिण के राज्यों को या मुगल साम्राज्य को देते थे। यह एक अतिरिक्त कर था जिसको वसूल करके मराठे यह विश्वास दिला देते थे कि वे उस क्षेत्र में अब लूटमार नहीं करेंगे और न आक्रमण ही करेंगे। दूसरा कर **सरदेशमुखी** था जो उपयुक्त कर के अतिरिक्त दसवाँ भाग होता था। इस प्रकार जो किसान मराठा राज्य के बाहर रहता था उसको ये अतिरिक्त कर भी अदा करने पड़ते थे। इस सारे धन का प्रयोग मराठा राज्य का निर्माण करने में किया जाता था। इससे भी दक्षिण में मुगल शासन की कमजोरी का पता चल जाता है।

शिवाजी के उत्तराधिकारी अयोग्य शासक थे। केवल रानी तारा बाई जो अपने छोटे पुत्र की संरक्षक थी, योग्य थी। शासकों की अयोग्यता के कारण धीरे-धीरे शासन का अधिकार पेशवाओं के हाथ में चला गया। पेशवा राज्य के ब्राह्मण मंत्री थे। आगे चलकर वे बहुत शक्तिशाली बन गए। जब तक औरंगजेब शासन करता रहा मुगलों ने किसी प्रकार मराठों के ऊपर अपना कुछ अधिकार बनाए रखा। पर औरंगजेब की मृत्यु के बाद शीघ्र ही मराठों ने बड़ी उन्नति कर ली और उनका राज्य भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बन गया।

मुगल साम्राज्य में होने वाले अन्य विद्रोह

औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। ये सभी शासकों और सरदारों के ही विद्रोह नहीं थे। कुछ विद्रोहों के पीछे किसानों का भी हाथ था। मथुरा जिले के जाटों ने विद्रोह किया। किसानों को यह शिकायत थी कि उनका लगान अकबर के शासनकाल में उपज का केवल एक तिहाई था। उसको अब धीरे-धीरे बढ़ाकर उपज का लगभग आधा कर दिया गया है। लगान का यह बोझ उनके वहन करने की शक्ति के बाहर था। फिर भी औरंगजेब इस लगान को कम न कर सका क्योंकि अपनी सेनाओं के लिए उसको अधिक धन की आवश्यकता थी।

मुगल सेनाएँ अब पूर्ण रूप से दक्षिण में व्यस्त हो गई थीं। बीजापुर और गोलकुंडा के घेरे वर्षों तक चलते रहे। अंत में ये दोनों राज्य सन् 1686 और 1687 ई० में मुगल साम्राज्य में मिला लिए गए। किन्तु इसी बीच में औरंगजेब का राजपूतों के साथ भी संघर्ष आरंभ हो गया। राजस्थान के दो प्रमुख राज्यों मेवाड़ और मारवाड़ के शासक औरंगजेब के विरोधी हो गए।

मुगलों का सिक्खों के साथ युद्ध आरंभ

हो जाने से परिस्थिति और भी अधिक बिगड़ गई। यह संघर्ष मुगलों के लिए बड़ा हानिकारक रहा क्योंकि पंजाब एक धनी प्रदेश था और उससे मुगलों को बहुत अधिक लगान प्राप्त होता था। लगान की यह समस्या धर्म की समस्याओं से भी उलझ गई।

सिक्ख

गुरु नानक द्वारा स्थापित किए गए नए धर्म के अनुयायी सिक्ख थे। सत्रहवीं शताब्दी तक सिक्ख धर्म पंजाब के अनेक क्षेत्रों के किसानों और कारीगरों का धर्म बन गया।

गुरु नानक के पश्चात् इस धर्म में एक के बाद एक नौ गुरु हुए। आरंभिक गुरुओं का ध्यान केवल धार्मिक पहलू पर ही केंद्रित रहा। किन्तु धीरे-धीरे सिक्खों के गुरु उनके सैनिक नेता भी बनने लगे। सातवें गुरु की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब ने गुरुओं के उत्तराधिकार के झगड़े से फायदा उठाने का प्रयत्न किया। इस बीच सिक्खों की शक्ति लगातार बढ़ रही थी। इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए मुगल प्रशासन ने 1675 में गुरु तेगबहादुर को फांसी का हुक्म दिया। इससे स्वभावत: सिक्ख उससे बहुत नाराज हो गए। दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों का सैनिकों के रूप में संगठन आरंभ किया और उनको मुगल सेनाओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए तैयार किया। अब सिक्खों के लिए 'खालसा' शब्द का प्रयोग होने लगा जिसका अर्थ है 'शुद्ध'। गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में अब उनके सैनिक दल बन गए। गोविन्दसिंह की सेना में अफगानिस्तान के सैनिक भी भरती किए जाने लगे। मराठों के समान सिक्खों ने भी अनेक स्थानों पर आक्रमण किए। किन्तु औरंगजेब के शसन-काल में मराठों की भाँति सिक्ख अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना नहीं कर सके। इस कार्य में सिक्खों को अठारहवीं शताब्दी में सफलता मिली।

इस प्रकार धार्मिक आंदोलन के रूप में जो कुछ आरंभ हुआ था उसने राजनैतिक रूप भी ग्रहण कर लिया। मुगल साम्राज्य अब इतना शक्तिशाली नहीं रह गया था कि वह सिक्खों के विद्रोह का दमन कर सके। अठारहवीं शताब्दी में मुगल और अधिक कमजोर हो गए और उनके साम्राज्य की छीना-झपटी आरंभ हो गई। सिक्ख सरदारों ने भी इस अवसर से लाभ उठाया और वे छोटे-छोटे राज्यों के शासक बन गए।

पुर्तगालियों और अंग्रेजों ने भी औरंगजेब के लिए समस्याएँ उत्पन्न कीं। पुर्तगाली समुद्री डाकुओं ने बंगाल की खाड़ी में जहाजों के लूटने का कार्य फिर आरंभ कर दिया था। इस बार उन्होंने चटगाँव को अपना केन्द्र बनाया। उनके विरुद्ध युद्ध करने के लिए औरंगजेब ने अपनी सेना भेजी। इस सेना को पूर्ण सफलता मिली क्योंकि उसने केवल चटगाँव पर ही अधिकार नहीं किया बल्कि बंगाल के पूर्वी भाग को भी मुगल साम्राज्य में मिला लिया। पश्चिमी समुद्र तट पर इस समय अंग्रेज समुद्री डाकू उपद्रव कर रहे थे। वे भारतीय

जहाजों को लूट लेते थे। मुगल सरकार उनसे बहुत नाराज हो गई। सूरत में अंग्रेजों का एक कारखाना था। वहीं से अंग्रेज लोग भारत से व्यापार करते थे। इसलिए मुगल सरकार ने उनको धमकी दी कि जब तक वे समुद्री डाकेजनी का कार्य बंद नहीं करते और जुर्माने के डेढ़ लाख रुपये जमा नहीं करते तब तक उनको भारत के साथ व्यापार नहीं करने दिया जाएगा। इससे अंग्रेज भयभीत हो गए। उन्होंने जुर्माने का रुपया अदा कर दिया और समुद्री डाकुओं को पश्चिमी समुद्र तट पर आक्रमण करने से रोक दिया।

औरंगजेब के शासन-काल के अंतिम दिनों में मुगल साम्राज्य उतना शक्तिशाली नहीं रह गया था जितना वह अकबर के शासनकाल में था। वास्तव में उस समय साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया था। पर साम्राज्य किस ओर जा रहा है इसका औरंगजेब को कुछ भी ज्ञान न था। औरंगजेब कुछ परंपरावादी मुसलमानों के प्रभाव में आ गया और उसने इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार शासन करने का निश्चय किया; इससे परिस्थिति कुछ और बिगड़ गई। उसकी यह नीति उसके पूर्वजों की शासन-नीति से भिन्न थी। पूर्वजों की धार्मिक नीति उदारता और सहिष्णुता की नीति थी। भारत जैसे देश में, जिसमें अनेक प्रकार के अनेक धर्मों के लोग रहते हैं, इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता की नीति बरतना बड़ी भारी भूल थी। अकबर ने जितनी अच्छी तरह भारत की समस्याओं को समझा था, औरंगजेब उनको उतनी अच्छी तरह नहीं समझ सका।

मुगल दरबार में धर्म

सत्रहवीं शताब्दी में मुगल दरबार धार्मिक दृष्टि से दो दलों मे विभाजित था। कुछ लोग कट्टर परंपरावादी थे और कुछ का दृष्टिकोण उदार था। भारत के बहुत-से मुसलमान अब भी उन प्राचीन परंपराओं का अनुसरण कर रहे थे जिनको वे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पूर्व अपनाए हुए थे। उनमें से अनेक पर उदार विचारधारा का प्रभाव पड़ा। अनेक उदार मुसलमान जो अकबर के ही समान विचार वाले थे अकबर के द्वारा चलाई गई धार्मिक परंपराओं को अपनाए हुए थे। उदार व्यक्तियों में नवयुवक शहजादा दाराशिकोह सबसे अधिक लोकप्रिय था। वह बड़ा ही प्रतिभाशाली और विद्वान व्यक्ति था। उन्नीस वर्ष की अवस्था से ही वह धर्म और दर्शन के गंभीर विषयों पर लिखने लगा था। सूफी और वेदांत दर्शन पर उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना वह है जिसमें उसने दोनों दर्शनों की समानता दिखलाई है। सन् 1657 ई० में दाराशिकोह ने उपनिषदों का भी फारसी में अनुवाद किया। सन् 1801 ई० में इस अनुवाद का फिर लैटिन भाषा में अनुवाद किया गया और इस प्रकार यूरोप के दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन का प्रथम बार अध्ययन किया। दुर्भाग्य से दाराशिकोह उत्तराधिकार के लिए अपने

भाई औरंगजेब के साथ होने वाले संघर्ष में मारा गया।

परंपरावादी मुसलमानों का नेता शेख अहमद सरहिन्दी था। वह अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में रहा। वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति और प्रभावशाली धर्मोपदेशक था। इस कारण उसके जीवन-काल में और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी शिक्षाओं का दरबार के लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने एक धार्मिक केन्द्र की स्थापना की जहाँ उसके अनुयायियों और शिष्यों ने उसके कार्य को आगे बढ़ाया।

औरंगजेब एक परंपरावादी मुसलमान बन गया था और वह अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रति पूर्ण निष्ठावान था। वह दरबार के विलासितापूर्ण जीवन से विरक्त हो गया था और धार्मिक विश्वासों पर आधारित सादा जीवन व्यतीत करना चाहता था। जब उसने उन पर जो मुसलमान नहीं थे फिर से जजिया कर लगा दिया और मंदिरों को नष्ट करने लगा तब उसने अपनी लोकप्रियता खो दी। वह यह नहीं समझ सका कि बादशाह का काम बुद्धिमत्ता से शासन करना है और प्रशासन में धार्मिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

लगान

जहाँगीर के शासनकाल से सत्रहवीं शताब्दी में लोगों की प्रवृत्ति शानशौकत से रहने की हो गई थी। जहाँ तक संभव था लोग ऐश्वर्य-वैभव के बीच में रहना पसंद करते थे। सरदार और उच्च अधिकारी राजमहलों मे रहते थे, कीमती वस्त्र पहनते थे, रत्नाभूषण धारण करते थे और गायन-वादन से अपना मनोरंजन करते थे। मुगल दरबार वैभव-विलास का प्रतीक बन गया था। जब बादशाह शिकार खेलने जाता था तब उसके शिकार की व्यवस्था में बड़ा धन व्यय होता था। राज्य की आमदनी खूब होती थी इसलिए विलासिता का यह जीवन व्यतीत करना संभव हो सका था। किसान और शिल्पकार कठिन परिश्रम करते थे इससे साम्राज्य की आमदनी बढ़ी हुई थी।

किसानों के जीवन में किसी प्रकार का आराम नहीं था। वे जैसे कि शताब्दियों से करते आए हैं अपने खेतों पर प्रातःकाल से रात तक कठोर परिश्रम करते थे। उनका प्रमुख उद्देश्य अच्छी फसल उत्पन्न करना था। जिससे वे आसानी से अपना लगान अदा कर सकें। सत्रहवीं शताब्दी में लगान उपज की एक तिहाई से बढ़कर लगभग आधा हो गया था। इससे किसानों का जीवन बड़ी कठिनाई का बन गया था। करों से प्राप्त यह अतिरिक्त आमदनी शीघ्र ही निगल ली जाती थी। अफसरों को उनका वेतन देना पड़ता था। साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया था इसलिए प्रशासन को चलाने के लिए अधिक अधिकारियों की आवश्यकता थी। सेनाएँ भी रखी जाती थीं। इनके अतिरिक्त मुगल दरबार की शान-शौकत और विलासिता के लिए भी अधिक धन की आवश्यकता थी।

शिल्पकारों को भी कठिन परिश्रम करना पड़ता था क्योंकि व्यापार से भी साम्राज्य

को कुछ आमदनी होती थी। अब फारस, चीन, पूर्वी अफ्रीका, रूस और पश्चिमी यूरोप से भारत का व्यापार होता था। जैसा कि हमने देखा है पुर्तगाल और इंग्लैंड आदि यूरोपीय देशों से जहाज आते थे और भारत से सामान ले जाते थे। मुगल इस विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देते थे क्योंकि इससे उनको बड़ा लाभ होता था। भारत के व्यापारी ऊँचे दामों पर अपना सामान बेचते थे। इस आमदनी से भारत संपन्न देश बन रहा था। व्यापार विशेष रूप से हिन्दू व्यापारियों के हाथ में था। व्यापार की उन्नति से नगरों के शिल्पकारों को अधिक कार्य करने को मिलता था। नगर भी उन्नति कर रहे थे। इस काल के बहुत-से यात्रियों ने लाहौर, दिल्ली, आगरा, बनारस, सूरत और मछलीपट्टम आदि नगरों की संपन्नता का विस्तृत वर्णन किया है। यूरोप के व्यापारियों की भारतीय वस्त्र-उद्योग में विशेष रुचि थी और वे बंगाल से ढाके की मलमल, बनारस के रेशमी वस्त्र, पश्चिमी समुद्र तट से सूरत और अहमदाबाद तथा मदुरै के सूती वस्त्र ले जाते थे। विदेशी व्यापारियों के मन में मलाबार की काली मिर्च की बहुत अधिक लालसा रहती थी।

भारतीय व्यापार में अंग्रेजों की रुचि अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। अंग्रेज व्यापारियों ने अपनी एक व्यापार-कंपनी बना ली थी। यह ईस्ट इंडिया कंपनी कहलाती थी। उन्होंने अपनी पहली कोठी (फैक्टरी) सूरत में स्थापित की और फिर धीरे-धीरे समुद्र तट के क्षेत्रों में फैलते गए। बंगाल में उनको अपनी इच्छा के अनुसार सभी स्थानों में व्यापार करने का अधिकार मिल गया था। इसके बदले में अंग्रेज स्थानीय सूबेदार को कुछ धन दे देते थे। कंपनी के द्वारा प्राप्त किए गए लाभ की तुलना में इस धन का कुछ भी महत्त्व नहीं था।

वास्तुकला एवं अन्य कलाएँ

मुगल साम्राज्य की आमदनी बढ़ गई तो केवल दरबार का जीवन ही अधिक विलासितापूर्ण नहीं हुआ बल्कि शासकों की बनवाई गई इमारतें भी अधिक सुंदर होने लगीं और उनको अधिक मूल्यवान वस्तुओं से सजाया जाने लगा। अकबर के समय में बहुत-सी इमारतें लाल पत्थर की बनाई गई थीं। अब इमारतों को राजस्थान से लाए गए अधिक मूल्यवान संगमरमर पत्थर से बनाया जाने लगा। इन इमारतों में दिल्ली, आगरा व लाहौर के किलों की मस्जिदें और राजमहल तथा आगरा के एतमादुद्दौला और ताजमहल जैसे मकबरे आते हैं।

शाहजहाँ ने बड़ी सुंदर इमारतें बनवाईं। उसके शासनकाल का विशेष रूप से इनके लिए ही स्मरण किया जाता है। दो कारणों से ये इमारतें बड़ी सुंदर हैं। एक तो उनमें भारतीय और विदेशी वास्तुकला के विभिन्न तत्त्वों का समन्वय किया गया है। इनमें अनेक आकार के गुंबद, सजी हुई मेहराबें, ऊँची मीनारें, झरोखे, चौड़े झुके

हुए छज्जे, छोटे दर्शक-मंडप और सजावट के अन्य उपकरण आते हैं जो भारतीय वास्तुकला में सामान्यतः पाए जाते हैं। दूसरे इन इमारतों के विभिन्न अंगों के अनुपात में बड़ा संतुलन रखा गया है। इन्हीं दोनों कारणों से ताजमहल सारे संसार में अपने सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध हो गया है।

औरंगजेब के शासनकाल तक साम्राज्य की अवनति आरंभ हो गई थी और अब मुगलों की वास्तुकला उतनी प्रभावशाली नहीं रह गई थी जैसी कि वह पहले थी। इस काल की इमारतें प्रायः पहले की बनी इमारतों की नकल होती थीं। जब लोग पुरानी वस्तुओं की नकल करने लगते हैं तब इसका अर्थ होता है कि उनके पास अपने मौलिक विचार और कल्पनाएँ नहीं हैं।

मुगल बादशाहों में जहाँगीर को चित्रकला का सबसे अधिक शौक था। वह केवल चित्र-रचना की शैली देखकर कलाकार को पहचान लेता था। विशनदास, मुराद, मंसूर और बहजाद जैसे उस काल के श्रेष्ठ कलाकारों को उसके दरबार में संरक्षण मिला। वह अपने चित्रकारों को चित्रकला की अन्य शैलियों में रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित करता था। जब टॉमस रो ने यूरोप के कुछ चित्र उसे दिखाए तो उसे यूरोपीय कला शैली की विशेषताएँ समझने की उत्सुकता हुई। जब औरंगजेब बादशाह बना तब कलाओं के क्षेत्र में एक भारी परिवर्तन हुआ। उसने चित्रकला का विरोध किया और अपने दरबार में चित्रकारों को चित्र बनाने से रोक दिया। इसलिए प्रोत्साहन न मिलने से चित्रकार मुगल दरबार को छोड़कर प्रांतीय शासकों के यहाँ चले गए। प्रांतीय सूबेदारों ने उनको अपने दरबार में रख लिया। कुछ काँगड़ा, गुलेर और गढ़वाल जैसे पंजाब के छोटे पहाड़ी राज्यों में चले गए और कुछ राजस्थान के मेवाड़, बीकानेर, बूँदी, कोटा और क़िशनगढ़ आदि स्थानों में। चित्रकला की दूसरी शैली का विकास दक्षिण के बीजापुर राज्य के संरक्षण में हुआ। इन्हीं अनेक स्थानों में चित्रकला के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न हुई और यहीं पर अठारहवीं शताब्दी के सुंदरतम चित्रों की रचना की गई।

संगीत

आरंभिक शासक अपने दरबार में श्रेष्ठ संगीतकारों को एकत्र करते थे और उनकी संख्या पर गर्व करते थे। संगीत की हिन्दुस्तानी या उत्तर भारतीय शैली मुगल दरबार में बड़ी लोकप्रिय रही। लेकिन औरंगजेब ने अपने दरबार में संगीत के प्रति अरुचि का प्रदर्शन किया। इससे संगीतकार बड़े निरुत्साहित हुए और बहुत-से मुगल दरबार को छोड़कर प्रांतीय शासकों और राज्यों के दरबारों में चले गए। कुछ मुगल दरबार में भी रह गए क्योंकि कुछ सरदारों ने उनको संरक्षण प्रदान किया। खयाल और ठुमरी जैसी संगीत की नवीन शैलियाँ, जिनका विकास मुगल दरबार मे हुआ था, नए केंद्रों में भी लोकप्रिय हो गईं।

साहित्य

मुगल बादशाह शास्त्र और काव्य के प्रेमी थे और इन दोनों में उनकी वास्तविक
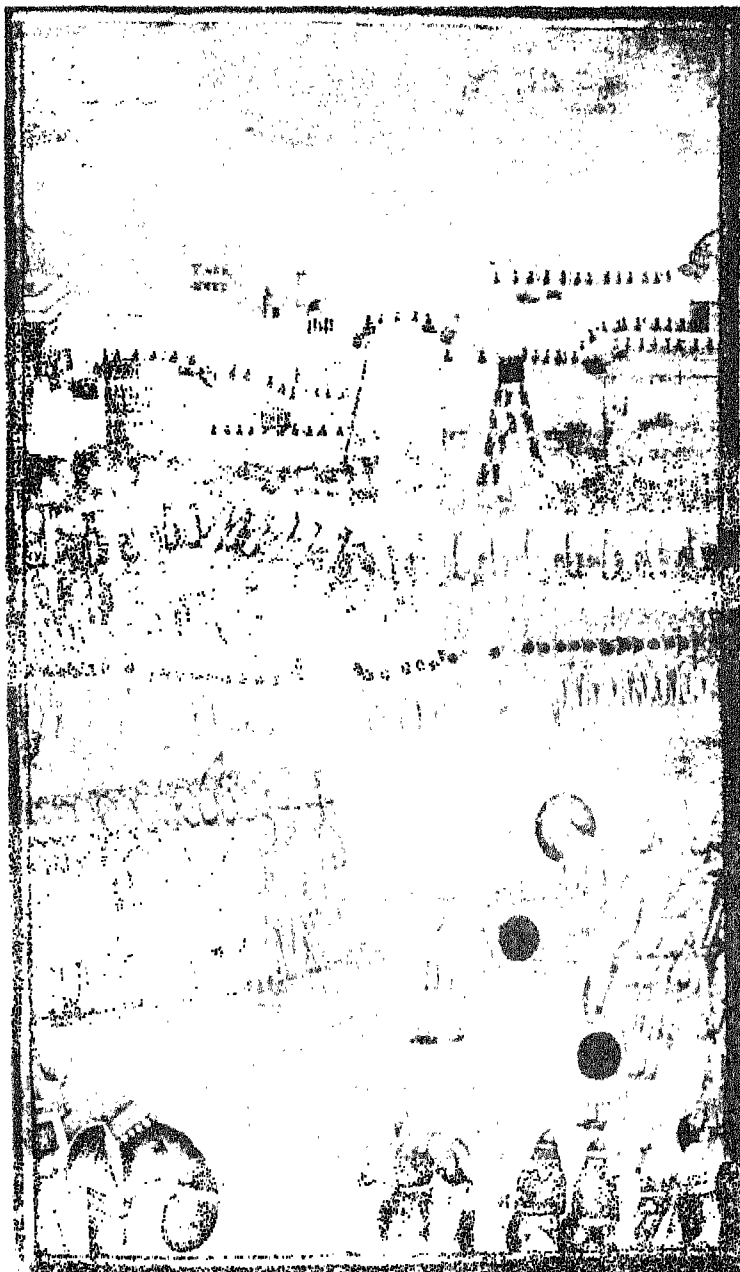
सन 1687 में गोलकुंडा की घेराबंदी—उत्तर-मुगल कालीन शैली
(लालकिला के संग्रहालय से)

रुचि थी। जैसा कि हमने देखा है राज परिवार में भी उच्च कोटि के विद्वान और लेखक हुए। भारतीय विद्वानों के वैज्ञानिक ज्ञान का विवचेन करने वाली एक पाठ्य-पुस्तक औरंगजेब के आदेश से उसके पोते के लिए लिखी गई थी। राज दरबार की भाषा फारसी ही बनी रही पर गाँवों और कस्बों में लोग उर्दू और हिन्दी भाषा का प्रयोग करते थे। कबीर और तुलसी के साथ-साथ अन्य कवियों की रचनाएँ भी बड़ी लोकप्रिय हुईं। सूरदास आगरे का एक नेत्र-विहीन कवि था जिसका लिखा हुआ 'सूरसागर' आज तक पढ़ा जाता है। रसखान एक मुसलमान सरदार था जिसकी कृष्ण के जीवन से संबंधित रचनाएँ 'प्रेम वाटिका' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बिहारी की लिखी 'सतसई' भी बड़ी लोकप्रिय हुई। बहुत-से कवियों ने उर्दू भाषा में काव्य-रचना आरंभ की। अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली और लखनऊ उर्दू काव्य के केंद्र बन गए।

सत्रहवीं शताब्दी भारत के लिए वैभव और ऐश्वर्य का युग थी। मुगल दरबार ने ऊँचें रहन-सहन के तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों के उदाहरण प्रस्तुत किए। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन हो गया पर जिस सभ्यता और संस्कृति का इस काल में विकास हुआ वे बाद में भी चलती रहीं। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जो छोटे-छोट राज्य बने उनमें मुगलों के द्वारा स्थापित किए गए रीति-रिवाज और तौर-तरीके चलते रहे।

अभ्यास

I. पारिभाषिक शब्द जिनको तुम्हें जानना चाहिए:

1. **अष्टप्रधान :** आठ मंत्रियों की एक समिति जो शासन संबंधी कार्यों में मराठा राजा को सलाह देने का कार्य करती थी।
2. **चौथ :** मुगल राज्य को दिए जाने वाले कुल लगान का एक चौथाई भाग जिसको अतिरिक्त कर के रूप में मराठे उन लोगों से वसूल करते थे जो मराठा राज्य के बाहर रहते थे। इसके बदले में मराठे उनको विश्वास दिलाते थे कि वे उनके क्षेत्र में लूटमार तथा आक्रमण नहीं करेंगे।
3. **सरदेशमुखी :** संपूर्ण लगान का दसवाँ भाग जिसको मराठे सारे क्षेत्र से वसूल करते थे।
4. **खालसा :** गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख समाज का फिर से संगठन किया और उसको एक सैनिक दल का रूप दिया। सिक्खों को 'खालसा' कहा जाने लगा जिसका अर्थ है 'शुद्ध'।

II. निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति उनके सामने कोष्ठकों में दिए हुए सही शब्द या शब्दों से करो:

1. ______ने अपने साम्राज्य का संगठन किया अत: उसका शासन-काल______ वंश के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। (हुमायूँ, अकबर, औरंगजेब, मुगल, मराठा, अफगान)
2. ______ने अपने संस्मरण लिखे जिनमें उसने अपने और अपने दरबार के जीवन का वर्णन किया। (अकबर, शिवाजी, जहाँगीर)
3. ______के शासन-काल में इंग्लैंड के राजा ने______को अपना राजदूत बनाकर आगरे के दरबार में भेजा। (बाबर, अकबर, जहाँगीर, सर टॉमस रो, हाकिंस)
4. ______ने उत्तराधिकार के युद्ध में अपने सभी भाइयों को पराजित किया और सन् 1658ई० में सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। (बाबर, शाहजहाँ, औरंगजेब)
5. ______ने अपने सैनिकों के दल एकत्र किए और दक्षिण के राज्यों का विरोध करना आरंभ कर दिया। (मुगलों, अफगानों, जाटों, मराठों)

III. स्तंभ 'अ' में दिए हुए तथ्यों का स्तंभ 'आ' में दिए हुए तथ्यों से सही संबंध स्थापित कीजिए:

अ	आ
1. जहाँगीर का शासन-काल बाद के मुगल शासकों के	1. आधार क्षेत्र के रूप में पुर्तगाली हुगली का प्रयोग करते थे।
2. संसारप्रसिद्ध ताजमहल	2. सिक्ख सैनिक दल के रूप में संगठित हुए।
3. बंगाल की खाड़ी में समुद्री डकैती करने के लिए	3. उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों में लोगों ने विद्रोह कर दिया।
4. औरंगजेब के सामने अनेक समस्याएँ इस कारण उत्पन्न हुईं कि	4. शासन-काल की तुलना में अधिक शांतिपूर्ण था।
5. गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में	5. मुमताज महल का मकबरा है

IV. निम्नलिखित कथनों में सही के सामने 'हाँ' और गलत के सामने 'नहीं' लिखो:

1. जहाँगीर ने किसी राजपूत राजकुमारी से विवाह नहीं किया।
2. बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों ने कभी मुगल साम्राज्य का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया और उन्होंने मुगल साम्राज्य से किसी प्रकार की संधि नहीं की।

3. शाहजहाँ का पुर्तगालियों के साथ बड़ा मित्रतापूर्ण व्यवहार था।
4. मराठा राज्य का शासन उनका राजा चलाता था जिसको आठ मंत्रियों की एक समिति सहायता और सलाह देती थी।
5. भारत के मुसलमान बने हिन्दुओं ने उन प्राचीन परंपराओं और सामाजिक जीवन के रीति-रिवाजों को छोड़ दिया जिनका वे मुसलमान बनने से पहले अनुसरण करते थे।

V. नीचे दिए हुए प्रश्नों के उत्तर दो:

1. जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब में किसका शासन-काल सबसे अधिक शांतिपूर्ण था और क्यों?
2. सिक्ख कौन थे? वे किस प्रकार एक राजनैतिक शक्ति बन गए? संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. बाद के मुगल शासकों के शासन-काल में विभिन्न प्रकार के लोग क्यों असंतुष्ट हो गए?
4. मराठों ने अपना शक्तिशाली स्वतंत्र राज्य किस प्रकार स्थापित कर लिया?
5. मुगल दरबार के परंपरावादी तथा उदार विचारों वाले व्यक्तियों में क्या अंतर था?
6. 'सत्रहवीं शताब्दी भारत के इतिहास में ऐश्वर्य-वैभव का युग था।' क्या इस कथन से तुम सहमत हो? अपने निष्कर्षों के समर्थन में कुछ लिखो।

VI. करने के लिए रुचिकर कार्य:

1. इस काल के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के जितने चित्र तुम खोज सकते हो उनको एकत्र करो। इनमें से जो तुमको सबसे अच्छा लगता हो उसका वर्णन करो।
2. खयाल और ठुमरी को सुनकर संगीत की इन शैलियों की विशेषताएँ ज्ञात करो।

अध्याय 9

मुगल साम्राज्य का पतन

जैसा कि प्राय: होता आया है, सन् 1707 ई० में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार का युद्ध आरंभ हुआ। उसके तीन पुत्र जीवित थे जिन्होंने सिंहासन के लिए परस्पर युद्ध किया। जो विजयी हुआ उसने बहादुरशाह की पदवी धारण करके सन् 1707 ई० में शासन करना आरंभ किया। चार वर्षों का उसका छोटा-सा शासनकाल कठिनाइयों से पूर्ण था। बहादुरशाह ने राजपूतों पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजपूतों ने विद्रोह कर दिया। इस बीच में सिक्खों ने भी विद्रोह कर दिया। इस कारण बहादुरशाह राजपूतों के विरुद्ध कुछ न कर सका। मराठे इस समय परस्पर युद्ध में लगे हुए थे अत: वे मुगल साम्राज्य के सामने कोई गंभीर समस्या प्रस्तुत करने के योग्य नहीं थे। यों वे समय-समय पर आक्रमण करते रहे। मराठा राजा शाहू ने मुगल दरबार में एक मनसब स्वीकार कर लिया था।

एक बार फिर उत्तराधिकार का युद्ध सन् 1712 ई० में बहादुरशाह की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्रों के बीच आरंभ हुआ। बहुत-से शक्तिहीन शासक हुए जिन्होंने थोड़े-थोड़े काल तक शासन किया। इसके बाद मुहम्मदशाह ने फिर साम्राज्य को संगठित करने का प्रयत्न किया। पर साम्राज्य का विघटन पहले ही आरंभ हो गया था। बंदा ने सिक्ख विद्रोह का नेतृत्व किया। उसने पहले ही पंजाब में अपना स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। यद्यपि अपने इस उद्देश्य में वह सफल नहीं हुआ फिर भी मुगलों को परेशान करने में वह सफल रहा। ब्राह्मण मंत्री पेशवाओं की नई शासन-प्रणाली में मराठे फिर से अपना संगठन कर रहे थे। धीरे-धीरे वे उत्तर भारत की ओर अपना अधिकार बढ़ा रहे थे। रुहेलखंड में बसे हुए अफगान भी मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे।

मुगल शासन के लिए सबसे बड़ी परेशानी की बात तो यह थी कि साम्राज्य में चारों ओर स्वतंत्र हो जाने की भावना फैल गई थी। उदाहरण के लिए हैदराबाद,
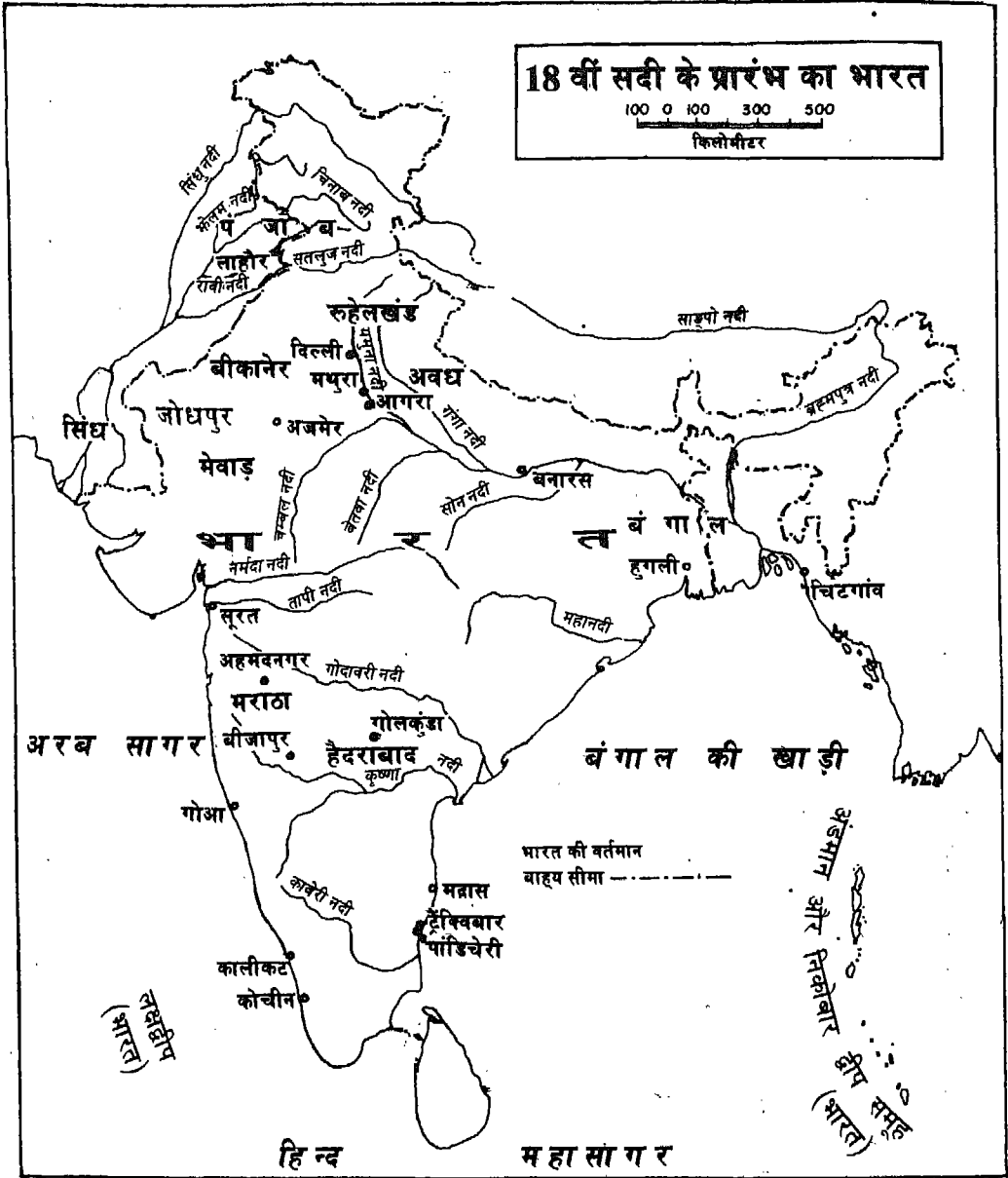
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

बंगाल और अवध के महत्त्वपूर्ण प्रांतों के सूबेदारों ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे।

मुगल शासकों के लिए जैसे अपनी ही परेशानी काफी न रही हो इसलिए उन पर उत्तर-पश्चिम से भी हमले किए जा रहे थे। इन आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य की शक्ति बहुत कम कर दी। सबसे पहला आक्रमण सन् 1739 ई० में ईरान के बादशाह नादिरशाह ने किया। उसने मुगलों से काबुल को पहले ही से जीत लिया था। उसने उत्तर-पश्चिम से आक्रमण किया और दिल्ली नगर को तहस-नहस कर डाला। मुगल उसके सामने झुक गए। वे आशा करते थे कि नादिरशाह मनचाहा धन लेकर चला जाएगा। नादिरशाह की सेना ने नगर को बुरी तरह से लूटा और उसको खंडहर बना दिया। नादिरशाह शाहजहाँ का तख्तेताऊस और कोहनूर हीरा भी ईरान ले गया।

एक साहसी अफगान अहमदशाह अब्दाली ने नादिरशाह के चरण चिह्नों का अनुसरण किया। उसने पंजाब को जीतकर अपने अफगानिस्तान के राज्य में मिला लिया। इस बीच मराठे पेशवा के नेतृत्व में शक्ति संचय कर रहे थे और वे पहले पश्चिमी भारत, फिर मध्य तथा उत्तर भारत में अपने राज्य का विस्तार करने लगे। अब मराठे सीधे मुगल साम्राज्य पर आक्रमण नहीं करते थे। वे शक्तिहीन मुगल सम्राट को अपने वश में रखकर अपने अधिकार का विस्तार करना चाहते थे। पर इसी समय अहमदशाह अब्दाली से उनका संघर्ष हो गया और उनको उससे युद्ध करना पड़ा। अफगानों और मराठों के बीच में सन् 1761 ई० में पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ। मराठों की पराजय हुई और उनको उत्तर भारत से हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। मुगल साम्राज्य अब दिल्ली के आसपास के क्षेत्र तक सीमित रह गया। मुगल सम्राट् सन् 1857 ई० तक केवल नाम के शासक बने रहे। अठारहवीं शताब्दी में वास्तविक राजनीतिक शक्ति नए राज्यों के हाथ में थी।

यूरोपीय व्यापारी

अठारहवीं शताब्दी में मुगल राज्य का पतन हुआ और नए राज्य शक्तिशाली बन गए। इसी समय कुछ नए लोग भारत पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न कर रहे थे। ये लोग यूरोप के निवासी थे। इनको दो विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। एक तो मुगल साम्राज्य के स्थान पर मराठों का राज्य तथा हैदराबाद, अवध और बंगाल जैसे बहुत-से नए राज्य बन गए थे। यूरोप के लोगों के लिए अकबर अथवा औरंगजेब के समय के मुगल राज्य की संगठित शक्ति का सामना करने की अपेक्षा इन राज्यों से युद्ध करना अधिक सरल था। दूसरी सुविधा यह थी कि वे समुद्र के मार्ग से आए और वे सभी समुद्री लड़ाई में बड़े कुशल थे। मुगल शासकों ने समुद्री शक्ति के महत्त्व को कभी नहीं समझा इसलिए उनके पास वास्तव में एक अच्छा जहाजी बेड़ा भी नहीं रहा। इसलिए जब यूरोप के निवासी भारत के समुद्र तट के नगरों पर अधिकार करने लगे तो न तो उन्हें मुगल रोक सके और न कोई अन्य

राज्य। इसके साथ-साथ यूरोप के लोगों को अपने श्रेष्ठ तकनीकी ज्ञान का भी लाभ था।

यूरोप निवासियों ने किस प्रकार इन नगरों पर अधिकार किया और कैसे उन्होंने अपने को भारत में शक्तिशाली बना लिया? यह एक अलग कहानी है जिसको तुम आधुनिक भारत पर लिखी गई पुस्तक में पढ़ोगे। पर इस कहानी का आरंभ मुगल काल से ही हो जाता है। यूरोप निवासियों में भारत में सबसे पहले उपनिवेश बनाने वाले पुर्तगाली थे। हमने पहले अध्याय में देखा है कि किस प्रकार गोआ पर अपना अधिकार करके वे वहाँ बस गए।

बहुत दिनों तक यूरोप निवासियों में से केवल पुर्तगाली ही भारत के साथ व्यापार करते रहे। समुद्री क्षेत्र में अपनी बढ़ी हुई शक्ति का उन्होंने फायदा उठाया। वह इस तरह कि भारतीय तथा एशिया के अन्य देशों के व्यापारियों को व्यापार चलाने की आज्ञा प्रदान करने के लिए वे उनसे जबर्दस्ती धन लेने लगे। इस प्रकार भारत के समुद्री व्यापार पर वे हावी हो गए। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के बहुत–से अन्य व्यापारी भी भारत आए। ये व्यक्तिगत व्यापारियों की हैसियत से नहीं आए बल्कि उन्होंने अपना संगठन करके व्यापारिक कंपनियाँ बनाईं।व्यापार से होने वाले लाभ-हानि को वे आपस में बाँट लेते थे। यूरोप के लोगों के यहाँ आने के अनेक कारण थे। पहले तो यूरोप में भारतीय वस्तुओं की, विशेषकर वस्त्रों और मसालों की विशेष माँग थी। अरब व्यापारी इन वस्तुओं को यूरोप पहुँचाते थे और यूरोप के व्यापारियों के हाथ ऊँचे मूल्य में बेच देते थे। इसलिए यूरोप के व्यापारियों ने सीधे भारत से व्यापार करने का निश्चय किया। इससे भी अधिक महत्त्व इस बात का था कि यूरोप का व्यापारी-वर्ग बड़ा संपन्न हो गया था और व्यापारिक माल का उत्पादन भी बढ़ गया था। इसलिए व्यापारी नए-नए बाजार खोज रहे थे और ऐसे क्षेत्र भी खोज रहे थे जहाँ से उनको सस्ता, कच्चा माल प्राप्त हो सके। भारत के पश्चिमी तट पर आने वाले जहाज वापसी में भारत से रुई और नील ले जाते थे और दक्षिण में मलाबार से काली मिर्च और मसालों का निर्यात होता था। मद्रास के चारों ओर के केन्द्रों से रुई और चीनी भेजी जाती थी। बंगाल से विशेष रूप से रेशम और शोरा का व्यापार होता था।

यूरोप की कंपनियाँ

यूरोप के एक छोटे-से राज्य डैनमार्क ने डैनिश ईस्ट इंडिया कंपनी बनाकर भारत भेजी। उन्होंने पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के दक्षिण में ट्रैंवीबार में एक फैक्टरी बनाई। लेकिन इस कंपनी को अधिक सफलता नहीं मिली। हालैंड से भी एक कंपनी भारत से व्यापार करने आई। इसका नाम 'यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी ऑफ दि नीदरलैंड्स' था। डेनमार्क की कंपनी की असफलता कुछ सीमा तक इस नई कंपनी की प्रतिद्वंद्विता के कारण थी। हालैंड के लोग एशिया में उन क्षेत्रों की खोज करते हुए आए जिनमें बहुत अधिक मसाले उत्पन्न होते थे। जावा और सुमात्रा में उनको ये क्षेत्र प्राप्त हो गए

और वे मसाले का व्यापार करने लगे। अब उनको भारत से केवल इतनी ही दिलचस्पी रह गई कि यूरोप से दक्षिणी-पूर्वी एशिया जाने वाले उनके जहाजों के लिए ठहरने को कुछ स्थान मिल जाए। इंग्लैंड के व्यापारी भी मसालों की खोज करते हुए यहाँ आए। जब हालैंड के व्यापारियों ने दक्षिणी पूर्वी एशिया के मसाले के व्यापार पर अधिकार कर लिया तब अंग्रेज व्यापारी विशेष रूप से भारतीय वस्त्रों का व्यापार करने लगे। शीघ्र ही उनका भारत के साथ होने वाले यूरोपीय व्यापार के एक बड़े भाग पर अधिकार हो गया।

अंग्रेज भारत के व्यापार पर अधिकार प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न कर रहे थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्होंने केवल इसी उद्देश्य से जहाँगीर के दरबार में अपना राजदूत भेजा। अंत में उनको सफलता मिली और उन्होंने सन् 1600 ई० में अपनी व्यापारिक कंपनी की स्थापना की। अंग्रेजों ने मछलीपट्टटम्, सूरत, फोर्ट सैंट जॉर्ज और फोर्ट विलियम में अपनी फैक्ट्रियाँ बनाईं। अंतिम दो स्थान बाद में मद्रास और कलकत्ता के प्रसिद्ध नगर बन गए। पुर्तगाली राजकुमारी का इंग्लैंड के शासक चार्ल्स द्वितीय के साथ विवाह होने पर अंग्रेजों को पुर्तगालियों से दहेज के रूप में बंबई प्राप्त हुआ। व्यापार और जहाजरानी की दृष्टि से इन सभी स्थानों की स्थिति बहुत अच्छी थी।

धीरे-धीरे हालैंड और पुर्तगाल के व्यापारियों को भारतीय व्यापार से बाहर निकाल देने में अंग्रेज सफल हुए। पुर्तगाली भारत में लोकप्रिय नहीं रहे। इसके अतिरिक्त पुर्तगालियों और हालैंडवासियों की सामुद्रिक शक्ति की अपेक्षा अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति अब बहुत बढ़ गई थी और इस बात से अंग्रेजों को भारतीय व्यापार पर अधिकार करने में बड़ी सहायता मिली। भारत से व्यापार करने वाली दो अंग्रेजी कंपनियाँ थीं। इससे कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। सन् 1703 ई० में ये दोनों कंपनियाँ मिलकर एक हो गईं और उसका नाम 'दि यूनाइटेड कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ इंग्लैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज' रखा गया।

परंतु आगे चलकर भी अंग्रेजों को प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ा। सन् 1664 ई० में फ्रांस के लोगों ने भी भारत से व्यापार करने के लिए एक कंपनी बनाई। मद्रास के दक्षिण में फ्रांसीसी एक स्थान पर बस गए जो पांडिचेरी कहलाया। आश्चर्य यह है कि यह लगभग वही स्थान था जो ईसा की पहली शताब्दी में प्राचीन रोमन व्यापार का केन्द्र अरिकमेदु था। अन्य यूरोपीय कंपनियों की अपेक्षा फ्रांसीसी अंग्रेजों के अधिक शक्तिशाली प्रतिद्वंदी थे। जैसा कि हम देखेंगे उनमें अठारहवीं शताब्दी में बड़ी गंभीर प्रतिद्वंद्विता चली। फ्रांसीसी और अंग्रेजी कंपनियाँ केवल भारतीय व्यापार पर ही अधिकार करने में सफल नहीं हुईं अपितु वे अठारहवीं शताब्दी में स्थापित होने वाले नए राज्यों की राजनीति में भी दखल देने लगीं।

मुगल राज्य के पतन के कारण

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। पतन के कुछ कारण तो सत्रहवीं शताब्दी में ही जड़ पकड़ चुके थे पर वास्तविक कमजोरियाँ अठारहवीं शताब्दी में दिखाई पड़ी।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी कमजोर शासक थे। वे साम्राज्य का पतन होने से रोक न सके। उनको अपनी प्रजा का सम्मान प्राप्त नहीं था। शासक के मरने के बाद हर बार उत्तराधिकार के लिए युद्ध होता था। इस प्रकार बहुत-सा धन और शक्ति नष्ट होती थी। जो शहजादा अंत में विजयी होता था वह अपने अधिकारियों और दरबारियों से सशंकित रहता था। जब सम्राट कमजोर हो जाते थे, प्रांतीय गवर्नर शक्तिशाली बन जाते थे। जैसा कि हम देख चुके हैं,हैदराबाद, अवध और बंगाल जैसे कुछ प्रांत इसी प्रकार स्वतंत्र हो गए।

मुगल साम्राज्य के पतन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। इस समय तक न तो पर्याप्त धन बचा था और न जागीरें ही जो विभिन्न अधिकारियों को दी जा सकती थीं। जमींदार असंतुष्ट थे क्यों कि उन पर शासन का कठोर नियंत्रण था। वे समझने लगे कि सरदार राज्य की आमदनी का बहुत बड़ा भाग स्वयं ले लेते हैं। अतः उनका सरदारों से संघर्ष आरंभ हो गया। एक अवसर पर तो जमींदारों के विरोध ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। लगान अदा करने के बाद किसानों के पास बहुत कम धन बचता था अतः वे अधिकाधिक गरीब होते गए। कभी-कभी किसान भी असंतुष्ट जमींदारों का साथ देते थे। मुगल इस समय बहुत-से युद्धों में फँसे हुए थे अतः उनको नियमित रूप से धन की आवश्यकता बनी रहती थी। औरंगजेब के दक्षिण के अभियान में मुगल आय निरंतर व्यय होती रहती थी। औरंगजेब के दक्षिण के अभियान में मुगल आय निरंतर व्यय होती रही। मराठे और सिक्ख बराबर मुगलों को धमकी देते रहते थे अतः मुगलों की एक बड़ी सेना इन दोनों क्षेत्रों को अपने अधिकार में बनाए रखने में व्यस्त रहती थी।

लगान का कुछ भाग प्रशासन पर भी खर्च किया जाता था। मुगल प्रशासन अब इतना सक्षम नहीं रहा जितना अकबर के शासन-काल में था। मनसबदारी प्रथा में अनेक परिवर्तन हो गए थे। अब मनसबों की संख्या अकबर के काल से तीन गुना बढ़ गई थी। मनसबदार अब उतने ईमानदार नहीं रह गए थे। वे जो लगान जमा करते थे उसका सही हिसाब नहीं रखते थे। वे बादशाह के लिए निश्चित संख्या में घुड़सवार भी नहीं रखते थे। वास्तव में कुछ ने तो इतना अधिक धोखा देना आरंभ कर दिया कि घोड़ों को संख्या से दागना आवश्यक हो गया। अकबर ने अधिकारियों को एक प्रांत से दूसरे प्रांत को स्थानांतरित करते रहने पर अधिक बल दिया था। इससे वे किसी क्षेत्र में बहुत अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाते थे। अठारहवीं शताब्दी में अधिकारियों का प्रायः स्थानांतरण नहीं

होता था जिससे उनमें से बहुत-से अधिकारी छोटे स्थानीय शासकों का सा व्यवहार करने लगे।

मुगलों का सैनिक प्रशासन भी कमजोर हो गया था। अब उच्च अधिकारियों की संख्या का अनुपात बहुत बढ़ गया था। सेना की निपुणता भी अब पहले जैसी नहीं रह गई थी। किसी समय मुगल सेना अपने तोपखाने पर घमंड करती थी किन्तु अब अन्य सेनाओं की तुलना में मुगल तोपखाना तकनॉलॉजी में बहुत पिछड़ गया था। बंदूकों और तोपों के उन नवीनतम नमूनों में मुगलों की अब कोई रुचि नहीं रह गई थी जिनका प्रयोग संसार के अन्य देशों में किया जा रहा था। भारतीय सैनिकों को प्रशिक्षित करने के स्थान पर वे विदेशियों को अपनी तोपों को चलाने के लिए नियुक्त करके संतुष्ट हो जाते थे। मुगलों ने नौसेना के विकास करने की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया। उनको यूरोप के देशों के आक्रमण की कोई आशंका नहीं थी इसलिए उन्होंने यह नहीं सोचा कि एक शक्तिशाली नौसेना का निर्माण बड़ा उपयोगी हो सकता है। पुर्तगालियों और अंग्रेजों के द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले नए ढंग के जहाजों को देखकर भी मुगलों के मन में उनके निर्माण का कोई उत्साह जागृत नहीं हुआ।

यूरोप में नवीन विज्ञान का विकास हो रहा था। वहाँ के विचारशील व्यक्ति नया ज्ञान प्राप्त करके नवीन अनुसंधान कर रहे थे। मुगलकालीन भारत इन नवीन खोजों की ओर से पूर्णतः उदासीन रहा। घड़ी जैसी महत्त्वपूर्ण उपयोगी यांत्रिक वस्तु की ओर भी उस समय के लोगों का ध्यान नहीं गया। अभिजात वर्ग के लोग और धनी व्यापारी अपने ऐश्वर्य, वैभव और विलासिता की वस्तुओं से इतने संतुष्ट थे कि ज्ञान के नवीन विकास में उनकी कोई रुचि नहीं थी।

विलासिता का जीवन मुगलकालीन भारत का दूसरा पक्ष था जिसमें व्यापार की आमदनी और भूमि के लगान से प्राप्त बहुत-सा धन व्यय हो जाता था। किसानों और कारीगरों को जितना ही कठिनाई का जीवन व्यतीत करना पड़ता था, शहरों के अभिजात वर्ग के लोग और व्यापारी उतने ही सुख का जीवन व्यतीत करते थे। चारों ओर से देश में धन आ रहा था। इससे मुगल बड़ी शान-शौकत का जीवन व्यतीत करने लगे। घरेलू शान-शौकत, कीमती वस्त्रों के प्रयोग, मूल्यवान रत्न धारण करने और कवि, कलाकारों तथा संगीतकारों को संरक्षता देने में धनी लोग आपस में प्रतिद्वंद्विता करने लगे। कवियों, कलाकारों और संगीतकारों के संरक्षण से उनका जीवन अधिक आनंदमय हो गया। ये सारे कार्य वैभवशाली जीवन के प्रतीक बन गए और इन पर बड़ी मात्रा में धन व्यय होने लगा। इस विलासितापूर्ण जीवन से अठारहवीं शताब्दी में देश का चारित्रिक और सामाजिक पतन हो गया। अभिजात कुलों के लोग अपना समय आलस्य और शराब पीने में नष्ट कर देते थे। अंत में जब साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भी वह अपनी और साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ

न कर सके। फिर भी सभी प्रांतीय दरबारों में इस प्रकार के आलसी और अयोग्य उच्च वर्ग के लोग नहीं थे। नवीन राज्यों के स्थानीय गवर्नर महत्त्वाकांक्षी थे और उन्होंने अपने अधिकारियों को अनुशासन में रखने का प्रयत्न किया।

मुगल साम्राज्य का पतन हो गया और दिल्ली, जिसने कभी शाही शान देखी थी, एक अरक्षित कमजोर नगर बन गया। पर उस संस्कृति और जीवन के उन तरीकों का जो इस ऐश्वर्य-वैभव के अंग थे, पतन नहीं हुआ। यह सभ्यता और संस्कृति अब दिल्ली से उन प्रांतीय छोटे राज्यों में पहुँच गई जिनका उदय अठारहवीं शताब्दी में हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के भारत का इतिहास इन्हीं राज्यों का इतिहास है। इन राज्यों में मुगल वैभव का अवशिष्ट अब भी देखा जा सकता था। इन राज्यों में घटित होने वाली घटनाओं ने ही भारत के भविष्य के इतिहास का निर्णय किया।

अभ्यास

I. स्तंभ 'अ' के कथन का स्तंभ 'आ' के कथन से सही संबंध स्थापित कीजिए:

अ	आ
1. हालैण्डवालों और पुर्तगालियों को भारत के व्यापार क्षेत्र से	1. इसलिए उन्होंने कभी भी सुदृढ़ नौसेना बनाने का विचार नहीं किया।
2. मुगल साम्राज्य के पतन के कुछ कारण	2. ईरान ले जाया गया।
3. मुगलों को यूरोपीय देशों के आक्रमण का खतरा महसूस नहीं हुआ	3. बाहर निकालने में अंग्रेजों को धीरे-धीरे सफलता मिल गई।
4. शाहजहाँ का प्रसिद्ध तख्तेताऊस	4. सत्रहवीं शताब्दी में खोजे जा सकते हैं।

II. नीचे दिए हुए कथनों में जो सही हों उनके सामने 'हाँ' और जो सही न हों उनके सामने 'नहीं' लिखिए:

1. नादिरशाह ने सन् 1739ई० में उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली को लूटा।
2. अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब को जीत लिया पर उसको अपने अफगानिस्तान के राज्य में नहीं मिलाया।

3. मुगल सम्राटों ने समुद्री शक्ति के महत्त्व को कभी नहीं सोचा और इसी कारण उन्होंने अच्छी नौसेना नहीं बनाई।
4. सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप की शक्तियों में केवल पुर्तगाली ही भारत से व्यापार करते थे।
5. औरंगजेब के उत्तराधिकारी शक्तिशाली शासक थे।

III. निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थानों की पूर्ति आगे कोष्ठक में दिए हुए सही शब्द अथवा शब्दों से करो:

1. ______के विद्रोह का संचालन______ने किया। उसने______में एक सिक्ख राज्य की स्थापना करने का निश्चय किया। (अफगानों, मुगलों, सिक्खों, बंदा, नानक, बंगाल, बिहार, पंजाब)
2. ______और मराठों के बीच सन् 1761ई०में______के मैदान में एक तीसरा युद्ध हुआ। (तलीकोट, तराइन, पानीपत, अफ़गानों, मुगलों, सतनामियों)
3. सबसे पहले यूरोप-निवासियों में से______भारत में आकर बस गए। (अंग्रेज, हालैण्ड-वासी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली)
4. अन्य यूरोपीय कंपनियों की अपेक्षा______की कंपनी अंग्रेजों के लिए अधिक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी सिद्ध हुई। (हालैण्ड, पुर्तगाल, फ्रांस, जर्मनी)
5. ______राजा शाहू ने______प्रशासन में एक मनसब स्वीकार कर लिया। (अफगान, मराठा, अंग्रेज, पुर्तगाली, मुगल)

IV. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:

1. मुगल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब कहाँ तक उत्तरदायी था?
2. भारत में मुगलों के विरुद्ध यूरोप-निवासियों को कौन-सी विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं?
3. भारत के व्यापार पर अधिकार करने में अंग्रेजों को किस बात से सहायता मिली?
4. भारत में अंग्रेजों के प्रमुख प्रतिद्वंद्वी कौन थे?
5. मुगल साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे?

V. करने के लिए कुछ रुचिकर कार्य:

1. भारत के मानचित्र में उन स्थानों को दिखाइए जिनको यूरोप-निवासियों ने व्यापारिक केन्द्र बनाया था।
2. अपने नगर के निकटतम जुलाहे के यहाँ जाइए और कपड़ा जिस प्रकार बुना जाता है देखकर, उसका विस्तार से वर्णन कीजिए।

महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ईसवी	712	दाहिर की पराजय और मृत्यु तथा सिन्ध पर अरब वालों की विजय।
	753	राष्ट्रकूट साम्राज्य का उत्कर्ष।
	836	प्रतिहार राजा भोज प्रथम का राज्याभिषेक।
	907	चोल राजा परांतक प्रथम का राज्याभिषेक।
	973	उत्तरकालीन चालुक्य राज्य की स्थापना।
	1026	सुल्तान महमूद द्वारा सोमनाथ का पराभव।
	1030	सुल्तान महमूद की मृत्यु।
	1192	तराइन का द्वितीय युद्ध, मुहम्मद गौरी द्वारा पृथ्वीराज तृतीय की पराजय।
	1206	मुहम्मद गौरी की मृत्यु।
	1206	कुतुब-उद्-दीन ऐबक ने गुलाम वंश की स्थापना की।
	1210	कुतुब-उद्-दीन ऐबक की मृत्यु।
	1210-11	इल्तुतमिश का राज्यारोहण।
	1236	इल्तुतमिश की मृत्यु और रजिया का राज्यारोहण।
	1266	गयास-उद्-दीन बलवन का राज्यारोहण।
	1290	खिलजी वंश की स्थापना।
	1296	अला-उद्-दीन खिलजी का राज्यारोहण।
	1297-1305	गुजरात, रणथंभौर, चित्तौड़, मालवा, उज्जैन, मांडू, धार और चंदेरी पर अला-उद्-दीन की विजय।
	1306-7	देवगिरि पर मलिक काफूर का अभियान।
	1325	मुहम्मद बिन तुगलक का राज्यारोहण।
	1336	विजयनगर राज्य की स्थापना की परंपरागत तिथि।
	1347	बहमनी राज्य की स्थापना।
	1393-94	जौनपुर राज्य की स्थापना।
	1398	तैमूर का आक्रमण।

1451	लोदी राजवंश की स्थापना।
1481	महमूद गवाँ की हत्या।
1484	बरार राज्य की स्थापना, बहमनी राज्य के विघटन का प्रारंभ।
1498	वास्को-डि-गामा का आगमन।
1526	पानीपत का प्रथम युद्ध, बाबर ने इब्राहीम लोदी को पराजित किया।
1527	खानुआ का युद्ध--बाबर ने राणा साँगा को हराया।
1529-30	कृष्णदेव राय की मृत्यु।
1530	बाबर की मृत्यु और हुमायूँ का राज्यारोहण।
1538	गुरु नानक की मृत्यु।
1539	शेरशाह ने हुमायूँ को चौसा के युद्ध में पराजित किया।
1545	शेरशाह की मृत्यु।
1556	हुमायूँ की मृत्यु और अकबर का राज्याभिषेक।
1556	पानीपत का द्वितीय युद्ध, अकबर ने हेमू को पराजित किया।
1565	तालीकोट का युद्ध।
1568-95	अकबर ने चित्तौड़, रणथंभौर, गुजरात, कश्मीर, सिन्ध उड़ीसा तथा बलूचिस्तान पर अधिकार कर लिया।
1600	महारानी एलिजाबेथ ने इंग्लैण्ड के व्यापारियों की कंपनी का पूर्व से व्यापार करने के लिए चार्टर स्वीकार किया।
1605	अकबर की मृत्यु और जहाँगीर का राज्यारोहण।
1616	जहाँगीर के पास सर टॉमस रो आया।
1627	शिवाजी का जन्म (कुछ के अनुसार **1630**)।
1627	जहाँगीर की मृत्यु।
1628	शाहजहाँ सम्राट घोषित हुआ।
1674	शिवाजी ने राजा की पदवी धारण की।
1680	शिवाजी की मृत्यु।
1686	बीजापुर का विलयन।
1687	गोलकुंडा का विलयन।
1707	औरंगजेब की मृत्यु।
1707	बहादुरशाह का राज्यारोहण।
1712	बहादुरशाह की मृत्यु।
1739	नादिरशाह का आक्रमण और दिल्ली पर उसका अधिकार।
1747-61	अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण।
1761	पानीपत की तीसरी लड़ाई, अहमदशाह अब्दाली ने मराठों को पराजित किया।

beyond such a statement you cannot go. In our example of incorrect vocational choice, this is expressed in the following manner: The student has made an incorrect vocational choice. *The chances are* that he has done so because the family insists on it; *the chances are* that the family insists on it because they do not realize the demands of the occupation or the strength and weakness of their child. Notice that the phrase "the chances are" is the counselor's way of stating his best estimate of the reasons for a given condition or problem.

It is extremely important to realize that so many factors operate to cause human behavior that you are always discussing *chances* of occurrence of some of these factors rather than any certainty of occurrence of any one factor.

There is one last fact of extreme importance in diagnosing or identifying student problems. It is simply this: The student may state a problem which turns out to be the least important aspect of his difficulties, or the student may not believe that he has a problem. In other words, in the counseling situation the two members of the interview, the student and the counselor, have two different viewpoints. From the material in front of him, the counselor may come to feel that the student has made an incorrect vocational choice. The student, however, may not believe that his choice is incorrect and may feel that the main problem for which he seeks help is one of financial assistance.

This fact of two different viewpoints in the counseling interview does not mean that the counselor fails to discuss or avoids a discussion of what the student feels to be the difficulty. In fact the counselor nearly alway starts his counseling by discussing the student's claimed problem. But the counselor does not take the student's statement of the problem as the complete diagnosis and does not confine his discussion to that problem alone. For example, many students are quite hesitant about discussing personal adjustment difficulties. They may come to the counselor to complain about a certain teacher or to ask about their program plans for the coming year or to talk about a difficulty with a certain subject. The counselor may find students have a personal adjustment problem which they either hesitate to discuss or of which they are unaware. Therefore, it is important not to focus all case work on what the student wants to discuss in the interview. It is important from the counselor's standpoint to decide whether the student's stated problem is the real problem.

These seem to be the most important general facts in diagnosis. With these clearly in mind, it is possible to discuss the identification or diagnosis of specific problems that occur quite frequently. It may be well to interview several students quite informally with these facts in mind and then to read this section again, before attempting more intensive case work.

Vocational Problems

The counselor has to make one of three decisions in regard to the probable vocational adjustment of the student: the student's present vocational choice is appropriate; it is inappropriate; the student has made no choice. Here, in outline form, are some of the contributing factors in the counselor's decision:

A choice is inappropriate if

1. It requires much more or much less general scholastic ability than the student possesses.
2. It requires special aptitudes which the student does not have in sufficient amounts.
3. It requires a different pattern of occupational interests and personality than the student may show.
4. It requires an amount of training which the student cannot possibly afford.

Three of these factors involve a knowledge of the student's strong and weak points; the fourth factor involves a knowledge of the family background and finances.

An inappropriate choice may be made because

1. The family insists that the student take up this line of work.
2. The student (or the family) has a misunderstanding about the duties and qualifications of the occupation he has chosen.
3. The student (or the family) is misinformed about the salaries, job opportunities, and security attached to the occupation.
4. The student (or the family) has a romantic or idealistic viewpoint about the occupation.
5. Well-meaning friends have suggested that the student would be a success in the occupation.

Notice that all these reasons grow out of a failure to understand the student's own strong and weak points in relation to job demands. The unspoken and incorrect assumption is that a student can be made into or

can make himself into any kind of worker, and therefore he need only choose a field where salaries are high, openings are frequent, and security is great. This is about as incorrect as assuming that all students could master higher mathematics or run a hundred yards in 9.4 seconds or learn to play a musical instrument.

A student may have made no vocational choice because

1. He isn't psychologically ready to make a choice, in terms of maturity or need.
2. He does not have enough information about himself and about jobs to be able to make a choice.
3. He can't make up his mind between two or more possible choices.

In cases of *no choice, inappropriate choice,* or *appropriate choice,* the student may show various degrees of certainty in his decision, all the way from complete indecision and uncertainty to complete certainty in regard to a specific choice.

How can the counselor judge the appropriateness of a claimed choice, or how can he help the student arrive at an appropriate choice? Psychologists have made a beginning in answering this question by developing what they call the "occupational ability profile." This development is a basic guidepost in your vocational guidance work, and we shall describe its logic here in outline form.

1. There are about thirty thousand or more separate occupational titles or labels in the world of work.
2. These titles can be grouped into broad *families* of occupations, wherein each family requires different amounts and kinds of various human characteristics for successful job competition.
3. *Some* of these different human characteristics can be measured by available test techniques as they are found among successful workers in the family of occupations.
4. Of these human characteristics which can be measured, some mature in the individual before he has had job experience. These are: general ability, special aptitudes, and interest types.
5. Therefore, the counselor can study these matured characteristics in the potential worker and compare the amount of them he has with the amounts possessed by successful workers in several families of occupations, in an effort to guide him toward an occupational choice in which his chances of successful competition will be greatest.

This is an oversimplified statement of the psychologist's idea; actually it is not as easy as it looks. But it is a guidepost that will give direction to vocational guidance and to the study of jobs. Notice one important point: when a counselor seeks occupational information in order to use this "occupational profile" idea, he seeks primarily information about human abilities, aptitudes, and interests demanded by the job, in addition to information about number of openings, beginning salaries, and other aspects of supply and demand by employers.

Examples will make the occupational profile idea clearer. Consider three broad families of jobs open to high-school students: office clerical jobs; semi-skilled mechanical jobs; retail sales jobs. Consider only a few human characteristics: general scholastic ability; clerical aptitude; manual dexterity; background in English; gregariousness or "social intelligence"; and occupational interest type. Consider five degrees of possession of these first five characteristics: very much, much, average, little, very little. It is probable that the following patterns of amounts or types of the six characteristics will be necessary for job success.

	Clerical Family	Semi-skilled Family	Retail Sales Family
General scholastic ability	much	little	little
Clerical aptitude	very much	very little	average or little
Manual dexterity	average or little	very much	little
Background in English	much	little	average
Social intelligence	much	little	much or very much
Occupational interest type	business detail	sub-professional	business contact

Another example from among the college-going group of students is given in regard to general scholastic ability, mathematics aptitude, social science background, economic conservatism, English background, and interest type. Instead of families of *occupations*, we now have families of *professional curriculums*, such as: all engineering curriculums; all social service curriculums, including teacher training; and all possible business curriculums, including law school.

	All Engineering Curriculums	All Social Service Curriculums	All Business Curriculums
General scholastic ability	very much	very much	very much
Math aptitude	very much	average	much
Social science background	average	very much	much
Economic conservatism	average	little	much
English background	average	much	much
Interest type	technological	social science	business detail or verbal

In these two illustrations, our average point may be taken as "the average of graduating high-school seniors in urban areas." With reference to the college-going group, we can see that potential candidates for any one of the three curricular families are about alike in terms of general scholastic ability, but are not alike in other regards. This fact stresses the importance of careful individual studies of higher-ability students. It is not enough to know that they are "college caliber." You must help them decide what college or what curriculum is most appropriate to lead them to the appropriate broad family of occupations for which college training is essential.

Notice also in the first example that a less than average amount of some traits is found among successful workers. This fact is important to keep in mind in understanding the meaning of low test scores among individual students.

In careful research studies on occupational profiles, average test scores and standard deviations of test scores, calculated from samples of successful workers, would be substituted for our words, "very much, much, average, little, very little." But for illustrative purposes, these words will serve the purpose. Furthermore, since job or college standards vary from one locality to another, it is probably best to illustrate the idea verbally rather than numerically, to stress the need for local research as a basis for assigning the numerical values.

The *Dictionary of Occupational Titles,* previously mentioned, and the more recent classifications of families of occupations worked out by the Occupational Analysis Section of the Division of Employment Security will be of great assistance in learning about families of occupations. These are available from the Superintendent of Documents, Government Printing Office, Washington, D. C. The *Minnesota Occupational Rating-Scale,* described in Chapter 4, is essentially a procedure for studying families of occupations in relation to the student's strong and weak points.

All we have described in regard to identifying vocational problems takes place *before* the counselor attempts to do anything about the problem. He first reviews his material about the student; then he talks things over with the student in the interview to get a clearer picture of the problem and the student's attitude toward it. He has not yet done anything to correct an inappropriate choice, confirm an appropriate choice, or help the no-choice student to reach a choice. But with these guides in mind, the counselor is

in a position to help the student choose the family, *or families,* of occupations in which he has the greatest chances of successful competition. Remember that a student may have the characteristics of more than one family of occupations.

The use of the concept has two strong advantages in vocational counseling. First, it is basically a much sounder and more functional approach to vocational problems than worrying about specific occupational labels selected by the student. Within the family of occupations that seems appropriate, several specific and alternative jobs can be found for the student to consider. In the second place, vocational guidance can begin in the earlier school years, since some of the broad human characteristics of ability, aptitude, or interest can be spotted by tests and other devices even in the junior high-school age range. As a corollary to this advantage, it is possible to relate the claimed occupational choices which the student makes at various stages to families of occupations. From the group guidance standpoint, the occupations class might study families of occupations and the counselor might help direct that study to the families which his individual diagnosis indicates are appropriate for each child.

One limiting fact must also be mentioned in relation to the occupational profile idea. It is based partly on the extent to which successful people in a group of occupations depart from the average amount of certain human characteristics, where "average" may refer to a cross section of the general working population. It is quite likely that the members of many routine, repetitive, relatively unskilled occupations do not depart to any great extent from the average of the general working population. It becomes impossible therefore to group such occupations into families, since the occupations demand no distinguishing or outstanding human characteristics. When students also show such a pattern of mediocrity or closeness to the general population average, it may not be possible to do any more in a guidance sense than help them get placed in a job that will make no excessive demands on them.

We can now restate the counselor's decision regarding appropriateness of choice. Is the student's claimed choice within the family of occupations for which his characteristic ability, aptitude, and interest pattern is indicative of successful competition? If so, the choice is appropriate. If not, it is inappropriate and the counselor must seek out the reasons that led to the inappropriate choice.

Identifying Educational Problems

In this problem area the counselor has one dominant question to answer. Is the student working up to his capacity? If not, what educational difficulties exist? In this section as in all sections, we shall discuss specific problems within the basic problem type. Where the specific problem turns out to be mainly a symptom of a different problem type, it will be necessary to track it down to its ultimate source in the process of diagnosis.

To decide if the student is working up to capacity, the counselor must know three sets of facts: the student's capacity as measured by good tests of general scholastic ability; his work or output as measured first by grades and where possible by standard achievement tests; and finally the established relation between ability and achievement for the school population of which he is one part or sample. This last fact is derived by the technique of the coefficient of correlation or by the technique of the graphic scatter-diagram which we have illustrated in earlier chapters. A separate scatter-diagram is necessary for ability versus grades and ability versus standard achievement tests.

In the process of deciding about a student, the counselor will look at the grade level in relation to the level of ability. He may say that the grades are about at the level the student is capable of getting. If this grade level is still below the school standard or the passing level, it certainly cannot be the student's fault. It simply means that the curriculum is not appropriate to the ability level of the student. The counselor must then decide whether the student can be shifted to a better curriculum or whether the rigidity of the curriculum forces the student to continued failure.

If, on the other hand, the student seems to be an overachiever in terms of teachers' grades, the counselor may look at the diagram for ability versus standard achievement tests and find a lower level of tested achievement that is truly more in line with ability. Conversely, a student who seems to be an underachiever in terms of teachers' grades may turn out to be doing about as well as can be expected in the light of his better scores on standard achievement tests.

Where the ability measure is definitely above average and where both grades and standard achievement tests agree in putting the student below average in achievement or accomplishment, the counselor then looks for specific educational reasons for the underachievement. He may find, for example, that the student is spending an excessive amount of time in outside

work for money. This clue takes him directly into the financial problem type and tends to determine and limit what he will do to help the student. He may find that the student lacks the basic study skills to learn and to retain what is taught. In other words, the student may be spending inappropriate amounts of time on study or the student may be unable to use textbooks well, or he may be unable to use library facilities to track down necessary information.

Since the teachers are primarily subject matter specialists, it should be relatively easy for them to identify incorrect approaches in the study of their subjects. Teachers should be well able to impart effective study skills and study techniques to the students.

In addition there are inexpensive manuals or aids for use in developing study skills. Counselors can use these as further guides in identifying the study weaknesses, as well as methods for correcting or treating the problem. One such guide is the pamphlet, *Studying Effectively,* by Wrenn and Larsen, available from the Stanford University Press, Stanford University, California, for $0.25. Another, *Practical Study Aids,* by Wrenn, is available from the same publishers. The first pamphlet is primarily for beginning college students, but high-school counselors can adapt much of the material to the needs of high-school students.

One phase of the educational problem involves the student's ability or inability to budget his time. There are 168 hours in every week, to be wisely spent in daily tasks. You may get students to keep a log book or a budget of their time for a couple of weeks to find out how wisely or wastefully time is being spent. Where there is insufficient time spent in school tasks, or much time unaccounted for, you may have the source of the educational problem and may take steps to help the student learn more efficient life styles.

In similar cases of discrepancies between ability correctly measured and achievement correctly measured, the teacher may look for the standard educational disabilities such as reading speed and comprehension, arithmetic skills, or weaknesses in English and language skills. And in the case of reading skills there are inexpensive manuals or aids to use in identifying and correcting reading problems. One of these is *How to Read Rapidly and Well,* by Wrenn and Cole, available from the Stanford University Press for $0.15 per copy. The pamphlet *Studying Effectively* also contains suggestions for improving reading.

All of these diagnostic judgments grow out of an inspection of the ability and achievement material in the case records. It is important also in this regard to look at both grades and standard achievement tests in an effort to determine continuing strong and weak points. A student who has consistently made poor grades in one subject matter area with high grades or good grades in another area may have a special handicap that will color all of his educational experience.

In those cases where the student's vocational choice is inappropriate, it frequently follows that his future educational plans will be inappropriate and thus the diagnosis of a vocational problem may also lead to the diagnosis of inappropriate educational choice as well, in a high percentage of cases.

There are two other specific educational problems that should be mentioned. Many times teachers feel that students "just won't work." This complaint is more frequently directed toward boys than it is toward girls; it is reflected in the fact that boys, on the average, are given poorer grades than girls, even when both sexes are the same in basic ability. The problem is essentially one of inappropriate or inadequate motivation, and it is extremely difficult to solve even though it is relatively easy to identify, after all other possible educational problems have been checked off the list.

Psychologists know relatively little about motivation among human beings, in the theoretical sense. But it is easy to see certain elements in the high-school situation that do not produce motivation. Going to school is compulsory, and on the average outside compulsion doesn't help motivation. Going to school involves some classroom activities of no great intrinsic interest to the child. This situation, combined with the difficulty of doing a good job of teaching, makes it difficult to hold the child's attention, which is an element in motivation. Going to school usually involves a lock-step progression, dictated by adults, from one task to another. This lack of freedom of choice also limits motivation. Going to school as an activity competes with a host of other activities in which the child may want to take part. These more interesting distractions and bypaths cut down on motivation to study.

Popularizing, liberalizing, or even streamlining the school experience would help to produce better motivation, as would any increase in teaching skills on the part of the individual teacher. The point to remember is that the school situation itself is often the source of the poor motivation, and the student should not be condemned too much when this occurs.

The other educational problem is the problem of planning programs for students, including extracurricular activities. Usually this is solved by requiring all students to take specified subjects at specified times, with emphasis on the traditional academic subjects, and with limited choice of a few non-academic electives. Admittedly state departments of education determine or enforce such general policies and standards. But it is quite likely that some educational difficulties could be prevented if data about the individual student could be used in program planning, in selecting appropriate educational experiences, or in creating new informal or formal experiences to meet the student's needs. Effective education will take place to the extent that better program planning for the individual student, regardless of his grade and age, takes place.

These two problems—lack of motivation and selection of classroom experiences—are linked together. The student takes what he's told to take, without any chance to make choices; the student is unmotivated. The source of these problems lies in the school program itself, and must be corrected at the source. But in studying students notice how often problems of poor motivation and unreasoned or inappropriate program choices occur.

Referring back to the scatter-diagram, the counselor can now make his required judgment regarding work up to capacity, and can identify a few specific educational problems in those cases where work is not up to capacity. Remember, though, that if grades are considered symptoms primarily, the symptom of underachievement may be traced in turn to health, financial, personal, or family problems. It is important to keep this in mind, and it is also important to remember, in the sections to follow, that a problem may exist *without* producing the symptom of grades out of line with ability.

Identifying Financial Problems

In discussing educational and vocational problems, we have relied heavily on test or quantitative material about the student in the diagnostic process. By way of contrast, the identification of financial and health problems is carried on almost exclusively without such numerical devices; we rely heavily on the interview and other sources of non-test information in these two areas. In this sense, the interview is primarily a judgment-making or fact-finding device; in the next chapter we shall discuss the interview as a curative device to help students in the solution of their problems.

In identifying family and personal types of adjustment problems, personality tests, interviews, anecdotal reports from others, and observations of behavior are used in combination to identify the specific problems.

Thus, the process of identifying problems ranges from great dependence on numerical data to great dependence on non-numerical data. Both kinds of data are indispensable.

There are three specific financial problems commonly observed among students. First, it is generally believed that outside work may lower a student's grade record. However, most of the good research studies indicate that students who do carry an outside work load that is not excessive will earn as good grades as students of similar ability who do not do outside work. The use of a time budget, as described above under study habits, will permit the counselor to judge the effect of outside work on the student's total adjustment. Do not jump to the conclusion that outside work for pay or for family assistance will automatically spoil the student's grade record. But even though outside work need not affect grades, it may affect, or produce problems in other aspects of the student's adjustment, such as social life, health, or personal adjustment.

To identify a second specific financial problem, permanent limitation on educational-vocational plans, the counselor needs to get evidence about the financial status of the parents, together with evidence of the student's own earning power to date. The student who hasn't a nickel to use toward expenses of further education but who is otherwise a good risk for such training, may face the disillusionment of wasted abilities on low-level jobs, if full financial aid cannot be provided in some way.

The third financial problem is a less severe case of the second: temporary financial limitation on educational-vocational plans. Some students can see their way through part of a post-high-school training program, either with family help or with their own earning power, but cannot complete the entire job without outside help.

The identification of such problems requires common sense and tactful questioning in the interview together with factual information about expenses of college courses, expenses of other training courses on the post-high-school level, and possibilities of part-time employment while in training.

It is quite likely that any teacher or counselor who can manage his own personal finances capably can be helpful to students in identifying and treating financial problems if only he will take the time to get correct and

complete information on expenses, scholarships, community financial aids, and part-time employment opportunities.

Physical or Health Problems

Without special medical training, teachers and counselors cannot, and should not, attempt diagnosis in this area of student behavior or student adjustment. However, they must be alert for signs and symptoms of health problems and must call the attention of the proper authorities to such deviations. Continuing or periodic absences from school, frequent colds, listlessness, rapid exhaustion, marked underweight or overweight conditions, hearing difficulties, visual difficulties (as seen in the nearness or farness of reading material when the student is reading by himself)—these are some of the many possible clues or signs to look for, and to report to the school nurse, or the school administration, or the parents.

Wherever possible, after a medical examination, the teacher or counselor should try to find out if the medical findings placed any limitation on the student's educational and vocational program. If the reduction of a class schedule is necessary, the teacher or counselor must help in working out this adjustment. If a physical handicap exists that limits or eliminates certain occupational opportunties, the teacher and counselor must know this in their educational and vocational planning with the student. It is not enough to turn the student over to another specialist for a medical examination; the counselor must subsequently find out the relation of the medical findings to other aspects of the student's adjustment.

Social or Personal Problems

Here, and also in the case of family problems, symptoms and causes of problems are most varied and most confused. Assigning correct labels to specific problems is additionally difficult because of the complex nature of personal adjustments and personality traits. Among the more clear-cut specific problems, however, are the following:

Extremely high, or "good" scores on tests of social adjustment, together with evidence of participation in a wide range of activities, both organized and unorganized, may indicate the *oversocialized* student. The difficulty here is to determine *how much* activity beyond the average becomes a problem, and *for what* future adjustments the oversocialization is dangerous. If the individual's grades are pulled down by oversocialization, the problem

is immediate and its harmful effect can be seen in the individual's present adjustment. Beyond that, however, what is the effect of oversocialization? Generally speaking, the danger is that in the future the individual's job adjustment may be affected unless he or she settles down.

The other end of this problem, *undersocialization,* is probably more serious. Extremely low or "bad" scores on tests of social adjustment, together with evidences of almost no participation in activities and shyness in and out of the classroom, complete a fairly clear-cut picture of undersocialization. In some cases this apparent problem may in reality be a symptom of, or a clue to, feelings of shame or inferiority about poor family background, personal appearance, physical handicaps, or inability to compete in academic and extracurricular situations. In other cases, undersocialization is no more than an observed retardation in the individual's social development, which can be corrected by gradually helping the student to learn skills in social situations. The most common danger is that an attempt will be made to socialize any and all undersocialized children by pushing them into "activities." Where the undersocialization grows out of feelings of shame or guilt, such activities only intensify the problem and do not solve it.

In this regard it is interesting to point out one general finding of several research studies on student participation in extracurricular and social activities: a minority of the pupils participate in the majority of possible activities (unless all pupils are *forced* into activities) ; this minority is made up of the students who are best adjusted to begin with, and who therefore profit least from such participation. In other words, well-adjusted students tend to seek out the activities; the activities do not produce well-adjusted students. Even in those schools so "activity-conscious" that all students are obliged to participate, it is likely that participation is helpful only for those whose undersocialization is a problem of retarded social development; for other types of undersocialization, participation is probably a painful and difficult experience.

"Attention-getting behavior" is a fairly appropriate label to use in describing the actions of students who are basically unsure of themselves or feel insecure in their adjustment. The attention-getting behavior is their attempt to compensate for their feelings of insecurity; it is often a socially undesirable or unacceptable type of behavior, such as aggressiveness or bullying, "cockiness," unusual modes of dress or speech or mannerisms, boastfulness, and "tall stories." Such students may come from homes where

considerable parental friction exists, or they may be unable to get recognition because of inability or lack of opportunity to compete successfully in more acceptable fashion, such as earning good grades or having appropriate social skills. Truancy and delinquency also may result from these same two basic causes.

Similarly these same causes can produce a withdrawing, daydreaming, reclusive type of student who is somewhat different from the undersocialized student in the sense that he may not be shy, but simply shows no interest in participation with fellow students.

Any evidence of *over-reacting* to daily situations must be observed by the counselor as another clue to emotional or personal problems. All of us normally worry a little about social mistakes, or about our health, or about criticisms of our behavior, or about the future. All of us are pleased with small successes, compliments, and other satisfying experiences. Some students, however, become excessively depressed, irritable, anxious, worried, moody, excited, or elated over daily happenings. They *over-react* to situations, without apparent cause. These symptoms must be observed and generally classified as *emotional* problems.

Personality test scores offer clues or signs of all these problems, although they do not tell the cause of the problem. Rating scales or anecdotal records similarly may highlight such personality factors. In the interview the counselor must be alert to observe the occurrence of these characteristics and must be able to question the student tactfully and often indirectly in an effort to get the student to discuss such problems.

Human personality is complex, and any discussion of it is likely to be diffused and cloudy. Our *standards* of good and bad adjustment are not well defined. The difficulty of separating symptoms and causes is great. Skill in diagnosis involves greater knowledge of the psychology of adolescence and the psychology of personality than most of us possess. The possibility of stumbling on a severe and deep-seated maladjustment is ever-present. Yet in spite of all these facts, it is necessary for the counselor to attempt to identify such problems.

In Chapter 4 we suggested that personality testing be the last addition to the guidance or personnel program, because of the difficulties involved. We may reinforce that suggestion at this point by urging you to proceed cautiously in even discussing these personality problems too freely with all your colleagues. Whatever the student may tell you in confidence cannot be

broadcast. Whatever impressions or judgments you make about the nature and causes of personality problems should not be too openly discussed lest in the very act of discussion the student becomes "typed" as a "problem child." What others don't know or can't see won't hurt them. Whenever possible, students whom you believe to have severe personal or emotional problems should be referred to a better-trained psychological or medical specialist in the community.

Identifying Family Problems

The sheer process of growing up and learning to adjust to the greater independence of late adolescence is a situation which sometimes produces family-student conflicts. Parents can't understand why children don't obey as they used to; children can't understand why parents continue to treat them as children. The parent's inevitable tasks of enforcing social regulations, doling out spending money, checking on choice of companions, watching over moral behavior, exhorting the child to study hard can easily seem to the child like nagging and constant criticism. So it is to be expected that some students will be upset or disgruntled by home situations. If you add to this "normal" problem of growing up the further possibilities of rivalry with brothers and sisters, emotional friction between parents, or the depressing effect of hard times on the father and other members of the family, it is not surprising that family conflicts occur to make the child feel uncertain and insecure in an adult world he understands only vaguely.

As in the case of social or personal adjustment problems, personality tests of home adjustment, interviews, home visits or contacts with parents, reports and anecdotes from others are all methods of identifying such problems. A few of the standard conflict-producing situations are described below.

Some families, in a well-intentioned attempt to spare the child adult insecurity, dominate the child's occupational choice and insist that he or she prepare for or enter a certain field. If you will refer back to the section on vocational problems, and apply that information to the family rather than the student, you can see the problem more clearly. In such cases it is the family, rather than the student, who must be reached in an effort to bring about a more appropriate vocational choice.

Some families, in attempting to motivate a child, will constantly compare the child to a more gifted and more effective brother or sister. Contrary to

expectations, feelings of inferiority on the child's part are too often the outcome obtained. A special case of this difficulty is that of the student who feels rightly or wrongly that he is not as well liked or well treated by his parents as are other brothers and sisters.

The somewhat greater freedom of action which society permits boys is often accompanied by greater attempts on the part of the parents to see that the freedom is not misused. Because of this situation boys may often complain of parents' nagging them about the company they keep, the hours they keep, the way they spend money, and the little studying they do. The parents, whether they realize it or not, are in the process of helping the child become independent, and nagging or scolding is a poor way to help the child over this transition period.

However, the situation is different for girls since they show more of a tendency to remain docile and overdependent on the parents. Since this state of overdependence tends to keep the child out of trouble, parents are likely to prolong the overdependence for that reason, and are not likely to thrust enough responsibility on the girls.

In families where the parents themselves are not happily or adequately adjusted to each other, the child also may feel insecure, unloved, ashamed, or guilty, and may therefore show the various personality traits described in the preceding section. Sometimes, divorce or separation is a more clean-cut solution to this problem, whereas continued friction and bitterness between parents intensifies the student's maladjustment.

Certain children react to family conflicts by open rebellion, with its attendant vicious circle of punishment, bitterness, more open rebellion, and further punishment. The rebellion may flare up over finances, educational or vocational plans, religious observance, strict and restricted social life, standards of conduct, or personality clashes of differing temperaments. While such open family conflicts occur in a minority of cases, they are not rare, and the counselor must be on the lookout for them.

Running through all parent-child relations, the wise counselor can see inevitable differences in the two generations. It is quite likely that the earliest parents in the dawn of written history "wondered what this younger generation was coming to." In that same dawn of history, that younger generation probably couldn't understand "why their parents were so old-fashioned." It is only when these inevitable youth versus adult differences become extreme that a referee is needed, and counselors sometimes become the

referees, setting up new ground rules or interpreting each generation to the other.

In this chapter the process of identifying or diagnosing student problems may seem to range from a rather exact skill in inferences based on discrepancies in numerical data to a rather vague search for possible explanations of problems. Discrepancies between test scores and other numerical measures are sources for judgments about the nature and presence of educational or vocational problems. At the other extreme, judgments about the nature and presence of personal or family problems are based more often on the descriptive, non-numerical information collected in studying the student.

We point out again that both types of judgment must be made even though more caution must be used in the latter type of judgment. With this in mind, it may be wise to read again the last part of the 3rd chapter and the 4th chapter, where accuracy, meaning, frames of reference, and practicality of various judgment-making devices were discussed and illustrated in describing the various techniques of collecting information.

Selected Bibliography

1. Dvorak, B. J. *Differential Occupational Ability Patterns.* Bulletins of the Employment Stabilization Research Institute, Vol. III, No. 8. University of Minnesota Press, 1935. 46 pp. Price: $1.00. (t).

   Highly technical, research treatment of the concept described in Chapter 6. Much later research has been patterned on this pioneer study.

2. Hildreth, G. and Wright, J. L. *Helping Children to Read.* Bureau of Publications, Teachers' College, New York, 1940. 90 pp. Price: 50 cents.

   Suggests classroom procedures for developmental and corrective reading programs at the junior high-school level.

3. Marzolf, S. S. *Studying the Individual.* Burgess Publishing Company, Minneapolis, 1940. 181 pp. Price: $2.50. (t)

   An attempt to build up principles of case work by brief discussions of short case histories; extensive bibliography and topical organization of discussion. Will not be easy reading unless the reader has good background in case work.

4. Menninger, K. A. *The Human Mind.* Garden City Publishing Company, New York, 1930. 447 pp. Price: $1.00. (*)

   Vivid, graphic presentation of real life adjustment problems. The sections on psychological aspects of behavior are not good in an academic sense, but in his own field of psychiatry the author does an excellent job of describing the maladjustments of human beings in an understandable manner. Good background reading.

5. Russell, D. H., Karp, E. E., and Kelly, E. I. *Reading Aids Through the Grades*. Bureau of Publications, Teachers' College, New York, 1938. 90 pp. Price: $0.75.

   Suggests ways of making the teaching of reading a flexible process. Usable in the developmental or remedial program.

6. Strang, Ruth. *Behavior and Background of Students in College and Secondary School*. Harper and Brothers, New York, 1937. 515 pp. Price: $4.00. (t)

   An exhaustive survey and review of the literature on adolescent and school problems. Topics of intelligence, achievement, personality, and socioeconomic problems are discussed specifically, with separate discussions of special problems and the nature of adjustment. Good source book material.

7. Williamson, E. G. *How to Counsel Students*. McGraw-Hill Book Company, New York, 1939. 562 pp. Price: $3.75. (t) (*)

   The most complete treatment of the causes, frequency, symptoms, cures, and preventions of student problems. Deals primarily with college students but is adaptable to junior and senior high-school classes. Demands technical background and clinical experience for greatest understanding.

8. Williamson, E. G. and Darley, J. G. *Student Personnel Work*. McGraw-Hill Book Company, New York, 1937. 313 pp. Price: $2.50. (t)

   This relatively early statement of a strict clinical point of view caused much comment when published. The authors have elaborated their early points in later literature and this book is interesting now as a general introduction to clinical procedures in student personnel work.
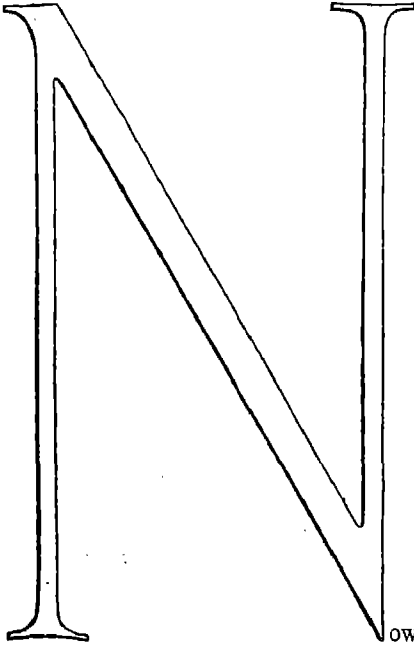
CHAPTER 7. *Counseling: How to Help Students*

Now that we have seen the methods by which information can be collected and interpreted, it is time to discuss the effective use of the material in helping students. Psychologists are only beginning to understand what to do in treating difficult student problems. Furthermore, they are only beginning to find out the differences between good and bad interviewers or counselors. The reason for this is quite simple: it is almost impossible to observe an interview in progress under conditions as well controlled as an experiment in chemistry of a classroom examination schedule or any other experimental situation.

The Counseling Interview

Since the interview is the heart of the counseling process, the inability to study it as a research problem has delayed an understanding of the characteristics of good and bad interviewers. No matter how much material we collect about students, the sheer collection of it will be of little value unless the material is discussed in a series of interviews with the student and other interested individuals. No matter how good the material is, this goodness will be relatively unimportant unless the material is wisely handled in the interview. The interview is truly the primary process by which actual counseling and treatment in regard to student problems are started and carried on.

Bingham and Moore, (see bibliography for this chapter) who have written extensively on the interview, say that it has three primary purposes: getting information, giving information, and changing attitudes. These purposes are supposed to represent what the interviewer hopes to achieve in his interview situation. In counseling or guidance the interview usually has all three of these purposes, and it is sometimes difficult to keep the purposes clearly separated in one's mind during the interview.

We have already discussed the interview as a device for securing information in the chapter on the techniques of making judgments. As explained there, the interview can be used to find out what the student's financial background is in relation to further education, or to find out what relationships exist between the student and various members of his family, or to get information about the student's apparent motivation, maturity, or personality. In such situations the facts which the interview yields should be added to the facts already collected by means of tests, questionnaires, reports from other people, grade records, and other judgment-making devices.

In that same interview, however, the counselor will probably have to give information to the student. The student must find out about his relative strong and weak points as indicated in the data collected. In addition, he must learn about training opportunities, job requirements, and types of post-high-school or parallel high-school training. It may be necessary to reconcile his incorrect beliefs about himself with the counselor's more accurate knowledge of him.

At the same time, the counselor may have to help the student revise his attitudes or beliefs in regard to his personal adjustment problems. It may be necessary, for example, to change his attitude toward his teacher and his subjects by showing him the possible importance of the work he is now taking as a means of fulfilling his later plans. If the student is upset by fancied mistreatment from one teacher, it may be necessary to modify or adjust his feeling toward that teacher. If he believes that his family is nagging him or putting obstacles in the way of his development, it may be necessary to clarify his relations to his family so he will see they are not necessarily persecuting him as an individual.

It should be obvious also that the counselor may have to interview the adults who control the student's life, in order to see their viewpoint or help change their attitudes about him.

Even though there is no standard rule for interviewing, there are certain principles which may be helpful to discuss:

1. Recent educational literature has placed a great deal of emphasis on the "mental hygiene point of view." This point of view is seen in the following characteristics of the attitude of the interviewer: the interviewer is friendly; he is tolerant of what the student has to say; he refrains from making moral or ethical judgments to the student; he suspends his final judgment until all of the facts are available; and he accepts the student as a conversational equal during the interview. This is somewhat different from the usual relations that exist between an adult teacher and an immature student. In most situations, the student feels that the adult teacher is passing judgment on the quality of his work, on his ability, or on his motivation. Similarly, the student in such relations has little chance to tell his story to an adult teacher or to get things off his chest. And finally, the student usually feels that he will be told that he has done the wrong thing or that he has been a "bad child" as determined by the adult teacher's moral or ethical judgment.

All other things being equal, the most effective interviewer is the one whose interviews are conducted in a manner which characterizes the mental hygiene point of view described above.

2. However, this point of view is primarily preparation for interviewing. It does not necessarily follow that any person who has these attitudes will be a successful counselor. Effective counseling or guidance rests on two foundation stones, one of which is competence in the statistical and measurement principles already outlined. The other foundation stone is skillful interviewing.

A person who is thoroughly well-grounded in statistics, tests, and measurements may still be a bad counselor in the sense that he cannot help the student. On the other hand, a person who knows nothing about statistics and nothing about tests and measurements, may still be a counselor in the sense that students find it easy to talk to him and have enough respect for him to follow out his suggestions, regardless of their merit. This means primarily that not all teachers must be expected to become good counselors in the same way that all teachers will not be expected to become statistical or test experts.

Obviously there are individual differences in the amount of these two types of skills a teacher will have. These individual differences in the pos-

session of the two skills mean that teachers will have varying amounts of effectiveness for the guidance program.

For example, some teachers will operate best when they interview students regarding their own subject matter. They know their own field of knowledge; they may know the tricks of studying in the field; and they may be able, by teaching and by student discussions, to vitalize their field of knowledge for their students. To the extent that they can do all of these things, they are valuable in the guidance program as interviewers for subject matter problems.

Other teachers may find their specialty in giving out vocational information. They may be totally inadequate in discussing emotional or social problems with students, but they may have enough knowledge of vocational demands and enough interviewing skills to help students in the choice of a broad vocational field, and in job-hunting procedures. To this extent, therefore, they also contribute to the guidance program.

Some of the advisers of extracurricular activities may be extremely skillful in handling social adjustment problems of students as these problems can be seen and treated in the group activity situation. They may be effective in bringing out the shy student or in indirect suggestions to the unpopular student or in indirect development of the student who lacks social skills.

A few teachers may develop an adequately high level of clinical skills for use in a wide range of student adjustment problems, when they become more thoroughly acquainted with the technical aspects of guidance and receive enough practice in interviewing. These are the people who will carry the heaviest part of the counseling or guidance work from the clinical standpoint.

3. It naturally follows that the most effective guidance programs are found in schools where one or more people can be brought to a high technical level and an efficient interviewing level. Guidance programs are necessarily limited by the people who do the guidance. One of the most difficult tasks of the school administrator, therefore, is to select and develop at least one good personnel worker in his institution.

4. Most people feel that they know how to interview. They believe it is merely a conversational situation involving two people. But actually it is supposed to have some helpful purpose or outcome for the student who is interviewed. When a new counselor starts interviewing with any extensive amount of material in front of him, he soon finds himself confused by the

very mass of material, and *counseling* interviews seem complicated. He experiences the same nervous symptoms and uncertainty which characterized his first practice teaching or teaching experience. He doesn't know where to begin; he may be frightened into reading off a series of test scores which are meaningless to him and to the student; he may find that the student is dominating the interview in spite of his best efforts to the contrary.

At this point it seems wise, therefore, to discuss several ways of thinking of counseling interviews.

1. The interview may be considered as an unrehearsed play in which two actors appear. If the actors miss their cues or forget their lines, the play lags and becomes a monotonous or pointless experience. Since the counselor or the interviewer is usually the older actor in the situation, it is up to him to "carry" the play. He must start out in the beginning by laying the foundation for the rest of the interview. He must organize the conversation so that it leads naturally to one or two climax points which will remain in the student's memory. At the end of the interview, the counselor must summarize the action and future plans so that the structure of the play can be clearly seen by both actors. By his alertness, his enthusiasm, and his skill in choosing the appropriate words, he must "pace" the student so that the student will also find the interview a pleasant and stimulating experience. These general statements apply even if the student has received unpleasant information in the interview.

2. In another sense, the counselor may consider the interview as a special learning situation for the student. How should the material be presented so that learning takes place? Examples come very quickly to mind. The counselor may lecture to the student in the interview, just as a college teacher lectures in the classroom. The chances are that this method will be relatively ineffective for the majority of students. The student may be pushed into a situation in the interview something like a recitation situation. He will recite his interests and hopes and his family background. This procedure is probably equally ineffective because the student will be reciting much that he has already indicated in the data collected before the interview; therefore, he will be unable to recite anything that is accurate about the test information the counselor has accumulated.

The learning outcome may be accomplished best by a discussion in the interview planned so that the student learns what his strong and weak points are and how his future plans can be formulated. Of the three ordinary

classroom situations described above, interviews that involve discussions probably are most worth while.

If the counselor explains the assembled test material and non-test data to the student, and then follows this by a discussion of the material, he may produce even better learning for the student.

3. In still another sense, the interview sometimes becomes a cathartic experience for a student suffering from tremendous emotional pressure. In such a case, when the student begins to pour out his long and troubled story, simply for the satisfaction of getting it off his chest, the counselor must prepare to sit back and listen. Students who are emotionally upset are not ready to learn or to be helped beyond the point of having someone to whom they may talk. The counselor must be alert to notice the student's frame of mind so that the counselor will not attempt to handle some other less deep-seated problem when the student wants to pour out his own immediate problems.

4. In many respects, the interview seems somewhat similar to a sales situation, since the counselor attempts to sell the student certain ideas about himself, certain plans of action, or certain desirable changes in attitudes. Persuasion and logic will facilitate and hasten the sale of such ideas by a counselor.

General Methods of Treatment

Let us now turn to a more general discussion of counseling or treatment methods in clinical work with students. Williamson, in his book *How to Counsel Students* (see bibliography at end of chapter) has presented the most comprehensive discussion of individual clinical work in guidance. In his chapter on counseling of students, he lists five methods which are basic in bringing about student adjustment. They are as follows: (1) forcing the student to conform to the demands of the environment; (2) changing the environment in which the student will operate; (3) selecting the most appropriate elements in the environment; (4) helping the student to learn basic skills for satisfactory adjustment, and (5) changing attitudes that interfere with satisfactory adjustment.

Consider specific examples of these five methods in relation to a vocational problem of inappropriate choice of level of job; the inappropriate choice is due to parental pressure. A student is choosing engineering when the most appropriate choice would be a trade school. The counselor has

already determined that the parents are responsible for the choice of engineering. Here is what may be done in such a case:

1. *Force conformity.* The principal of the high school may refuse to recommend the student to an engineering college. The college may refuse to admit the student because of low scholastic record. The high-school teachers may assign failing grades in the basic mathematics or science courses necessary for further success in engineering. In each of these situations, no real counseling has been done; nature simply has taken its course, and the student is the one who bears the brunt of failure and suffering.

2. *Change the environment.* It might be possible to go directly to the parents and have a frank discussion with them about the reasons and facts that indicate engineering to be an unwise choice. It might also be possible to get the student to take a stand himself against the parents after the interviewer has assayed his strong and weak points and persuaded him to accept a lower level of training for the skilled trades occupation.

3. *Select an appropriate environment.* The counselor and student may agree that the choice of engineering is unwise and may also agree that the parents cannot be moved from this choice. They might, therefore, select tryout courses in both engineering math and high-school shop work in which the student could demonstrate to the satisfaction of the parents high grades in shop courses and poor grades in the purely engineering subjects.

4. *Learn needed skills.* There are no necessary skills which the student can learn in the solution of the problem we have cited. It is not a problem of essential study skills or reading skills, the learning of which will lead to success in the chosen occupation.

5. *Change attitudes.* By persuasion, by explanation, by illustration, an interviewer may change the attitudes of the parents regarding their child or regarding the profession of engineering. If the student is resentful or embittered toward the parents because of their domination of his choice, the counselor may also try to change the student's attitude toward the parents, or may at least get the student to trust the counselor and to return to him for assistance and reassurance if failure follows from the family's plans.

This illustration of specific "remedies" fits Williamson's framework of general methods of bringing about student adjustment.

Williamson has one other listing of five categories in his text; he outlines the five procedures that a counselor could use in a series of interviews with a student. They are as follows: (1) establish rapport, that is, get the

student's confidence; (2) cultivate self-understanding on the part of the student; (3) plan a program of action for the student to carry out; (4) see that the plan of action is carried out, and (5) refer to other specialists or competent individuals.

Of these five, what specific procedures may we list for the student whose family insists that he be an engineer? Establishing rapport is a step common to any type of counseling, and it can be done by using the twenty-one suggestions for interviewing described later in this chapter.

Cultivating self-understanding can be accomplished by the following methods: (1) explaining to the student the irrational bases of many vocational choices with special reference to parental influence on choice; (2) explaining the generally correct methods of making a choice in terms of a knowledge of assets, liabilities, interest types, and occupational profiles; (3) making a specific list of a wise series of alternative choices for this student in the light of the test material about him; (4) persuading him to take up the matter thoroughly with his family in the light of his improved self-understanding.

In planning a program of action, (1) the counselor may reinforce his procedures in the second step above by having the student get college catalogs for engineering courses and for trade-school courses to make a comprehensive study of requirements; (2) the interviewer and student may plan together to try out certain courses in pre-engineering subjects and trade-school subjects; (3) they may also decide that one of them must talk to the parents. Although the counselor may have the satisfaction of bringing about the student's self-understanding he may still have to deal with the parents if the student is unable to cope with them; (4) furthermore, the possibility of referring the student and his parents to successful men in the field should not be overlooked.

In carrying out these plans of action, the counselor must (1) arrange for follow-up interviews to see that the student has done his part. (2) It may even be necessary to write letters of referral or set the stage for interviews with other people. Referrals may be made as was suggested either to men who are successful in the field, to industries or plants in operation, or to sources of information in published form. (3) The counselor must make a clear division of responsibility for his share and for the student's share in carrying out a total program.

It is fairly obvious that in treating student problems, counselors do not

have as many guaranteed specific methods as the doctors have for the localization of infection, for removal of pain, or for surgery and medication. It is true in medicine that a good diagnosis does not automatically lead to a cure; this is even more true in clinical work with students, partially because almost every other adult who is in contact with the student is sure he knows what is best for the student. Adults have always been willing, in fact almost too willing, to tell young people what to do. In the face of so much amateur competition, a trained or semi-trained clinical worker cannot always make his voice heard in the clamor that surrounds the student.

Guideposts for Counseling

There are, however, eight guideposts which might point up some of this discussion of what to do for students and how to help them. These are listed here as further aids in the development of counseling skills.

1. Since he cannot possibly work out the best solutions for all students at all times, a counselor must be willing to *refer students to other adults for help.* But in making referrals a counselor must ask himself three questions. Am I referring this student to a more competent specialist within my own field or outside of my own field? Am I referring this student to people who are my equal from the technical standpoint but who are working in other fields such as the fields of group activities, placement, or study skills in particular subjects? Am I referring the student to a person less competent than myself, who may undo some of the good I have done or who may give misinformation that is dangerous to the student? While a counselor cannot escape the necessity of referring certain young people for help, he must be aware of the values of these other specialists or adults to make sure the referral will accomplish what he wants it to.

2. This guidepost concerns the extent to which a counselor can use logic or *reasoning with students.* Since so much success in the interview rests on persuasion and discussion, it is important that the interviewer be aware of the logic or reasoning elements in clinical work. In this regard, one must answer the following questions:

Do I tend to descend to the level of argument and exhortation in counseling? If so, I am probably doing the student little good. Am I careful enough to explain facts to the student about himself or about his environment which he does not know or on which he has misinformation? Am I systematically giving a dispassionate description of the student's strong

and weak points so that he may know himself better? Do I make more effective use of logic and reasoning with high ability students than low ability students? It is quite probable that this is true.

It is a point of general importance in counseling to gear methods to the level or type which the student can understand. Don't try to be humorous with a student who lacks a sense of humor; don't try to be hard-boiled with a student who is afraid of his own shadow; don't try to be coldly logical with a student who can't reason, or whose emotions are temporarily blocked. Am I, the counselor, stating alternatives clearly enough, in a logical or reasonable fashion so the student can see what he is up against in making his decision?

3. The counselor must consider the *depth of the treatment.* It is stated this way: Am I correcting the student's problem at the source or am I trying mainly to eliminate symptoms? For example, the family, the teachers, or the student's contemporaries must be reached when the student's problem either arises in these people or is irritated by these people. A counselor must be willing to set the stage in certain situations by getting a group of outsiders who can help a particular problem child. These outsiders are not the specialists referred to in our first guideposts. They are simply other people who come within the range of the problem.

However, in setting the stage, a counselor must take care lest the student catch him moving the scenery around. If the student has reason to believe the counselor is betraying confidences or prejudicing people against him, the counselor's effectiveness is destroyed at once. But it is not enough to tell the undersocialized student to "get into more activities" or "make more friends." Student leaders in activities may have to be enlisted by the counselor to induct the shy student; other students may have to be urged to take the lead in making friendly overtures to the shy student. Some employers may have to be urged to "bear down" on a part-time work student whose work habits are poor. Exhorting underachievers or threatening them merely hits at the symptoms (grades), not the causes. Most of us tend to be too superficial in working with students; hence this emphasis on the depth of treatment.

4. Here we deal with the *principles of effective learning.* A counselor may well ask himself the following questions in considering this guidepost: Am I permitting the student to participate actively in the solution of his problem on the assumption that such active participation leads to greater

self-understanding? Am I choosing learning situations of graded difficulty for students so that I do not ask them to learn social skills or other types of skills completely beyond their grasp? Am I making appropriate use of rewards and punishments in the sense of commendations or criticisms as motivational devices? And finally, am I clever and ingenious in choosing tryout situations for my students or in developing new tryout situations for their use?

5. Another guidepost deals generally with considerations of continued rapport, or the *counselor's relation to the student.* Am I *gradually* pushing the student onto his own responsibility for making decisions? Am I avoiding any appearance of sitting in judgment on him in the adult-child relation? Do I have enough technical competence and interviewing skills to command his respect? Do I accept my share of the responsibility in helping him carry out his plans by writing letters, introducing him to people, making contacts for him, and by interviewing him periodically?

6. Since counselors cannot control all elements of the environment, the sixth guidepost considers whether *the wisest possible use of the environment* is being made. Am I taking as much time as I can in handling this student? Do I realize that time solves some problems and is nearly always on the counselor's side, just as it is on the doctor's side? Do I permit failure when it is the only effective solution and am I then ready to cushion the shock of such failure by continuing my relations with the student? Am I setting the stage, when necessary, by getting certain things to happen for the student or to the student in the environment? Am I doing this stage setting without violating his confidence?

7. This is a reminder that there must be a parallel *development of technical skills.* Teachers are not expected to blossom forth as counselors with statistics at their fingertips and tests and measurements at their command. But a counselor must avoid using tests that he does not understand. As noted previously, he can increase his knowledge by developing a minimum amount of statistical confidence quickly; participating in some research studies, and practicing identifying problems by drawing inferences from available data. It follows, therefore, that a counselor must be willing to devote time to continuing self-education in this field.

8. The last guidepost relates to the earlier discussion of diagnosis. We know that there are many so-called "normal maladjustments" or *normal problems in the sheer process of growing up.* The problem of growing into

independence of the family, the problem of seeking economic security, the general inarticulate behavior of many junior high-school and high-school students—these are essentially normal manifestations of the growing-up process. In treatment and counseling, therefore, one must take care to distinguish between a true state of adolescent affairs and a more serious deviation, beyond the normal adolescent problems. It is necessary to avoid making "problem children" in the counseling program, since counseling should be a systematic part of the educational process. Therefore *do not* start counseling interviews by calling in the underachievers and the discipline cases or delinquent students. If such students appear at the start of the guidance program, other students will become suspicious and unco-operative.

With these eight guideposts firmly in mind, it is likely that a counselor will develop skills in helping students within the limitations of his competence and the resources at his command.

Twenty-one Suggestions for Interviewers

To these general descriptions we can add additional specific suggestions for effective counseling interviews.

1. Put the student at ease. This should be accomplished in the first part of an interview by greeting him cheerfully by name and starting to talk about seemingly unimportant facts or interesting happenings before turning to a specific discussion of the student. The interview should be conducted privately. A student cannot be expected to talk if several other people can overhear what he says. Neither can a student be expected to talk if he feels that the counselor is in a hurry to get him out of the office or is in a hurry to do something else. The general usage of polite conversation and social intercourse is necessary.

2. Avoid asking questions which the student can answer simply by saying yes or no. This will help the student respond more completely to the questions, thereby giving the interviewer a better picture of the student in action as he talks. Rather than saying "do you want to be a doctor?" say "how did you happen to choose medical work?"

3. Do not override or overtalk the student if he is in the middle of a sentence, or if he is fumbling for the word he wants to use. The most frequent error untrained counselors make is that they put words in the student's mouth or talk faster than the student or in some other way take the conversation out of the student's hands.

4. Do not fire questions at the student like a machine gun. The interview is not a cross-examination and should not be handled as such. Furthermore, the emphasis used in stating a question is extremely important. Consider the question, "What do you want?" If the word *you* is stressed, it sounds as if the counselor were mad at being interrupted in other tasks. But if no word in the question is stressed, it becomes a much more friendly approach.

5. If the student asks a factual question, give him a factual answer. If this is not possible, then tell the student so. No one can know *all* the answers, and students are much more likely to have more confidence in a counselor who does not hesitate to admit his ignorance as well as his knowledge.

6. Keep the vocabularly of the interview in the range in which the student can understand it. It would be better to use slang than many-syllabled words, but neither extreme is necessary if the interviewer carefully chooses words that are within the student's comprehension range. For example, in getting the student to see his own strong and weak points, a counselor may use comparisons from the fields of athletic competition and in this way get his point across more easily. He can compare a student's strength in mathematics with his good speed in a 100-yard dash and his weakness in English with his poor speed in the half-mile. Such a student would be unlikely to compete in the half-mile if he had greater chances of success in the 100-yard dash, and if the example is presented to him this way, he can understand more easily the inadvisability of competing in the fields where a great deal of English is a prerequisite for success.

7. Do not attempt to get the student to "tell all" in one short interview period. This generalization is particularly true when dealing with emotional or personal adjustment problems. Some books on clinical work urge the interviewer to let the student make a complete "confession," or get everything off his chest, at one time. It is fairly well established, however, that the student who has talked that much about emotional or personal problems has rather clear feelings of guilt afterwards and may be ashamed to return again for further assistance. Furthermore, a counselor who lets his sympathies run away from him in such a situation and keeps prompting the student to tell everything in his innermost thoughts is unlikely to be skillful enough to help the student face and solve the emotional problems. Such a counselor would be in much the same position as an amateur "doctor" who

opened up an incision or a wound and left the patient as a bleeding mass of flesh, not having the skill to repair the damage.

8. Do not monopolize the entire conversation. The interviewer usually talks somewhat more than half of the time in the first counseling interview, since so much of that interview involves giving the student information about himself. However, a counselor who talks as much as 90 per cent of the time probably talks the student into a coma and makes it impossible for him to receive much from that interview. When the student reports back on a plan of action or for more discussion or for a change in his plans, in later interviews, it is quite likely that he should do half or more than half of the talking. While there are no hard or fast rules or norms regarding "talking time" in the interview, experience has indicated that the foregoing generalizations are fairly sound.

9. Keep control of the interview. Long experience has demonstrated that it is unnecessary to plan each step of the interview ahead of time. If this is done, the student is quite likely to upset the plans by going off on a topic of his own interest. On the other hand, too frequently beginning counselors are "talked out of" their own best judgment by a student who gets them rattled or off the subject. Keeping control of the interview, therefore, means letting the student roam a little bit in his conversation but eventually pulling him back by a transition sentence or a direct statement relative to the topics under discussion.

10. Wherever possible, use impersonal references in discussion with the student to avoid antagonizing him or having him resist suggestions. For example, if the student describes a difficult situation at home, and a counselor sees evidence of a family adjustment problem he should not say "*I think* you have a family conflict." Say rather, "Many guidance workers interpret this type of material as meaning that you have a family conflict." Rather than saying, "*I do not think* you have very many chances of success in such-and-such a field," say "the evidence is somewhat against your chances of successful competition in such-and-such a field."

11. Don't avoid giving "bad news" to the student if the bad news is really accurate. For example, it is a mistaken kindness to let a student believe he can reach a certain goal when the weight of the evidence is all against him. This does not mean that a counselor must tell the student that he is "dumb" or he cannot carry out his plans or his attitude is poor. But an interviewer is entitled to discuss—in fact, he should feel obligated to discuss

—the student's limitations with him or with his parents, so he will not make plans that will lead to almost inevitable failure. The interview has many of the characteristics of polite conversation, but it departs from the ground rules of polite conversation in that the counselor is duty bound to discuss controversial subjects and limitations where the student's adjustment is at stake.

12. Be concerned not only with what the student says in the interview but also with what he may *not* say, what he may be thinking, or what he may be covering up by his statements. Quite often there is an emotional undertone to the student's statements which the interviewer will miss unless he is alert to the fact that inhibition or reticence cause many individuals to say things they do not mean to say. In this same connection, remember that one need not necessarily take the student's statement at face value. If the student complains bitterly of a teacher or of a parent, the counselor will get into trouble if he rushes off to the teacher or parent to tell them what the student said. Even if the complaint is justified, nothing will be gained by carrying tales from the student. If the complaint is not justified, the interviewer must tactfully find out the facts preparatory to changing the student's attitude of persecution.

13. In making a transition from one subject or topic to another in the interview, make sure the student follows the transition and also moves along to the next topic. It is important that the student follow the trend of the interview, but he can only do this if the interviewer develops new ideas in a manner that the student can follow.

14. Beware of the student who discusses his problems freely and who comes back periodically for a good heart-to-heart talk but who, between interviews, does nothing to help himself and does not follow out suggestions. Such cases can seldom be helped.

15. Do not avoid talking about what a student thinks his problem is, but do not confine the interview to that topic if the evidence indicates that another problem exists. Sometimes the first interview can be confined to discussing the student's stated problem, with later interviews used for discussion of other problems.

16. Do not give isolated test scores to the student. It is quite likely that even the counselor at first understands only vaguely the meaning and interpretation of test scores, even though he may have been exposed to the elements of statistical methods and test procedures. How much less likely

it is, therefore, that the student, lacking as he does the counselor's experience, will understand and interpret the test information wisely. If he wants to know his test results, tell him his approximate rank, saying he is in the upper one-third or upper one-fourth or lower one-fifth. But even in making a statement of this kind, be sure to describe also the group with which he was compared.

For example, tell him that he is in the upper half of this group of high-school seniors on a measure of ability but that this rank would place him in the lower half of students entering a near-by university. Be very careful not to give out I. Q.'s (which are generally misunderstood by the public), or specific grades or percentiles on aptitude or interest tests. And by all means *do not give out scores on personality tests.* This mistake is very serious and frequently results in parental interference and indignation. Any rapport which has been established may easily be lost.

17. Avoid by all means giving advice that is too general or too vague to result in a good outcome. Keep suggestions as specific and concrete as possible or they will not help the student.

18. Be able to lay out alternative vocational or educational plans for the student. Many books on guidance insist that the counselor must not *tell* the student what to do. While such a generalization seems unsound since it emasculates most of the purpose of data collecting and since it would be of no assistance to a student who needs help in making a decision, it is still true that the student who chooses one from among several suggested plans of action will feel a more active participation in planning with the counselor. If the interviewer is unable to suggest alternative vocational plans, he should try to get the student to suggest them, to be criticized in the light of other evidence. Whenever possible, however, it is best to work out several alternatives with the student so he may think them over and make a suitable choice.

19. Do not forget to summarize or have the student summarize what occurred in the interview before he leaves. Much is said in an interview which lasts half-an-hour to an hour. Don't say: "Talk to somebody about this" or "read up on this field some place" or "don't worry" or "you ought to study harder." Tell the student what to read, who to see, what to do to keep from worrying, and how to study harder. Unless the interviewer and the student summarize that material together, it will be an unmeaningful or incorrectly emphasized or misinterpreted mass of words.

20. Learn how to end an interview. Think of standing at the door trying to figure out how to end the departing guest's farewell and thanks for a pleasant evening. Think of being cornered by a talkative and enthusiastic salesman. These examples give some idea of how the student feels and how the counselor might feel when the interview drags out far beyond a reasonable length of time. There are many polite and tactful ways of ending an interview, but it takes considerable practice. It is important to learn how to end the interview, however, not only from the standpoint of the efficiency of the interview schedule, but also because the amount of good that can be accomplished in a single interview is limited, regardless of added time.

21. In the majority of cases, an interview should end with a careful plan of action for the student to follow. This is an adaptation of the basic principle of learning by doing, and it prepares the way for subsequent interviews with the same student in order to carry on the treatment of his problems. This general rule presupposes that relatively few student problems can be cleared up in simply one interview. It cannot be emphasized too strongly that clinical work with students requires not only a willingness to collect data but also a willingness and ability to interview students frequently and regularly.

Importance of Interview Records

There is one other basic problem in counseling or interviewing to which relatively little attention is paid. This deals with the problem of case notes and interview records. However skillfully one may interview a student, the sheer memory falsification and memory loss to which everyone is subject may make the interview useless unless it is immediately recorded or summarized in some way. Therefore, it is essential that the interviewer be aware of the importance of keeping case notes and interview records. These notes and records serve at least six purposes.

1. Case notes and interview records serve as the jumping-off point for later interviews with the same student. From the case notes of the first interview, it is easy to refresh one's memory on what things were discussed, what plans were made, and what problems were brought out in the open.

2. Case notes are useful to give the background of the case to another counselor who, for any reason, has to take over work with that student. By carefully reviewing these notes, the second counselor can find out what his predecessor accomplished, what his impressions of the student were, and what plans of action the student was to pursue. When the student is being

referred to another guidance worker or agency, the first counselor can take from his case notes the material of importance to the other guidance worker or agency and transmit it in writing.

3. The sheer act of writing a complete record of what went on in the interview is an invaluable step in counselor training. In preparing case records, a counselor may suddenly wonder why he failed to discuss a given point and therefore change some of his original inferences about the case. He may discover glaring omissions in the content of the interview. He may see new solutions for discussion in the next interview.

4. In working in a school where one staff member supervises the counseling and in-service training program of other staff members, periodic reviews of carefully kept interview notes tell what was done, what was overlooked, and how the interview was carried on.

5. Another purpose of case notes is one of protection of the counselor. Students and parents alike quite frequently misunderstand or misinterpret the information they have received in an interview, particularly if this information deals with psychological test scores or touchy personal adjustment problems. In many instances, in the process of giving the student bad news, as we have defined it, a counselor encounters resistance to his suggestions. These suggestions may then be misinterpreted and the counselor finds himself being badly misquoted. To prevent situations of this kind, case notes and interview records provide the only protection that a counselor has. And there will always be times when such protection is necessary.

6. The last purpose of case notes and interview records is to permit research to be done on the frequency of student problems, the techniques of value in helping students, and the effectiveness of the total counseling program.

It is impossible to pre-plan every step of an interview. It is equally impossible to write down accurately everything that transpired in its proper chronological order in the ordinary interview lasting a half hour or longer. Adequate proof of this statement is found by comparing case records written after the interview with phonographic recordings of the interview as it took place. Furthermore, it is unnecessary to attempt to recapture all that occurred in the interview since much of it is not related to the solution or the diagnosis of the case.

But interview records may have a structure of their own which will increase their value and make them uniform and easy to understand in their

broad outline form. First of all, the case notes must be accurate so that the counselor does not have to depend on his memory. The case notes must be brief and to the point even at the risk of poor grammar or diction. Case notes are not novels or literary gems. The case notes should not include a host of material that has nothing to do with what happened in the interview. The case notes need to have sub-headings, side-headings, short paragraphs, and a similar structure for all interviews if they are to be easily used for reference purposes.

The following example will illustrate a form of case note which may be used on mimeographed sheets with the underlined sub-headings and side-headings already mimeographed to save writing time.

. . . .

Name: Tom Jones — *Grade: 11*
Age: 17
Date: May 2, 1942

Reason for Interview: Tom came in to plan his program for his senior year. He does not know what to take since he is not sure what his vocational plans will be.

Analysis of Case

General Ability: One test of scholastic ability indicates that Tom is somewhat above the average for his grade.

Achievement: Grades so far are slightly better than C average for the 9th, 10th, and 11th grades. Standard achievement tests, however, show that he is poorer than our average in science and mathematics with better than average English and social science test scores. He has had no work experience except a newspaper route. He has held no class offices but he has worked on the school newspaper.

Special Aptitudes and Disabilities: We have no information about his aptitudes or disabilities.

Occupational Interests: He claims to be interested in engineering, business executive work, or flying an airplane. On interest test, he shows skilled trades interest primarily.

Personality Characteristics: He shows no "bad" scores on personality test. There are no favorable or unfavorable reports from his teachers.

Physical Status: The school health examination is completely negative.

Socioeconomic Background: The father is a carpenter and has completed the 9th grade. The mother did not work before marriage; has completed the 10th grade. There is an older brother who graduated from high school and who is working as a clerk.

Diagnosis of Case

There are no major problems in this case. While Tom is somewhat above the average of the 11th grade, he does not look like a good college risk. The achievement test weakness in science and mathematics may indicate that he has been over-graded in these high-school subjects. They certainly do not indicate a very good chance for success in engineering. There is a discrepancy between his claimed interests in engineering or business, and his measured interests in the skilled trades field. There seem to be no personality problems or health problems or family problems.

Prognosis

In the light of my discussion with Tom today, I predict he will get through his senior year in high school all right. I do not think he will succeed in college but I think he will accept the alternative vocational plan we were discussing today.

Counseling or Treatment

I discussed the choice of courses that Tom could take next year and suggested that he try out in one or two of the commercial courses, omitting more science or mathematics from his program. I talked to him about the high levels of ability or achievement in science and mathematics required for success in engineering and went on to discuss the training program offered by N. Y. A. for national defense industries. I have asked him to look into this more carefully and report back to me. At that time we will make final plans for his senior year in the light of his decision about his further vocational plans.

. . . .

Notice that these case records are not too difficult to be written out in longhand. Notice something even more important: They are very careful to include evidence on *absence* of problems as well as on *presence* of problems. This evidence is one of the most important aspects of case records.

Everyone has a tendency to write down only those things on which he has direct evidence and in so doing, neglects to put down certain aspects of the student's life where no evidences of maladjustment could be found. If a counselor can realize the importance of recording *absence* of judgment-making data and *absence* of maladjustments, he is well on the way to having good case history material.

Now, if the sheer act of writing out case notes seems too difficult for a teacher already burdened with other details, it is possible to mimeograph check lists of student problems which can be checked for both presence and absence in each case. The last chapter lists typical problems which might be included in such a check list. It would then be possible to mimeograph a check list of things done for the student, such as discussing his strong and weak points, referring him to sources of occupational information, planning classroom or outside of classroom tryouts, sending him to another specialist, arranging to talk to parents, and so on. The list might be drawn up from the general discussions and guideposts in this chapter. Check lists of this kind reduce the amount of actual hand writing labor to a minimum. It is still necessary, however, to do some actual hand writing in building up a case history based on a series of counseling interviews, and therefore the mimeographed forms should have lined spaces for notes covering a series of interviews.

Selected Bibliography

1. Bell, H. M. *The Theory and Practice of Personal Counseling.* Stanford University Press, California, 1939. 167 pp. Price: $1.25. (t) (*)

   A revision of the author's earlier excellent reference on making and using a personality test in counseling. Simple, clear examples of problem types.

2. Bingham, W. V. and Moore, B. V. *How to Interview.* Harper and Brothers, New York, 1931. 308 pp. Price: $3.00.

   Practical suggestions for various types of interviews. Should be used after some practice in interviewing in accordance with the suggestions in Chapter 7.

3. *Review of Educational Research—Pupil Personnel, Guidance, and Counseling.* American Educational Research Association, 1201 Sixteenth Street, N.W., Washington, D. C. Vol. XII, No. 1, February, 1942. Price: $1.00.

   The most recent and up-to-date bibliography and discussion of the entire field of guidance. Excellent source of information.

4. Rogers, C. R. *The Clinical Treatment of the Problem Child.* Houghton Mifflin Company, New York, 1939. 393 pp. Price: $3.00. (t)

   A technical and readable discussion of practical ways of helping children. Requires psychological background. Discusses diagnosis, changes in environment and changes in the individual as phases of preventive and curative work.

5. Williamson, F. G. *How to Counsel Students.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1939. 562 pp. Price: $3.75. (t) (*)

   The most complete treatment of the causes, frequency, symptoms, cures, and preventions of student problems. Deals primarily with college students but is adaptable to junior and senior high-school classes. Demands technical background and clinical experience for greatest understanding.
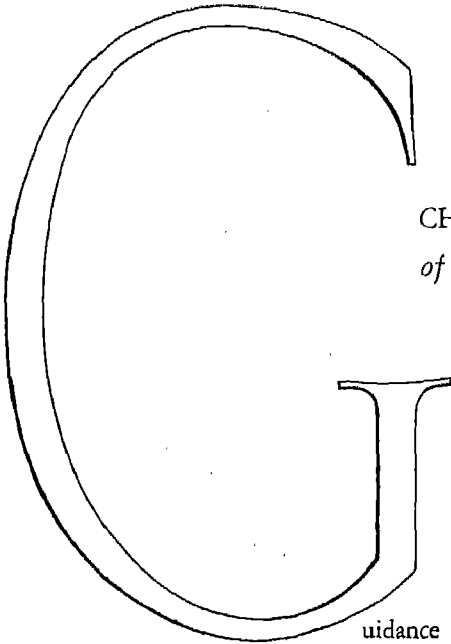
CHAPTER 8. *The Case History of a Community*

Guidance workers or student personnel workers have many of the faults and virtues of a missionary. Usually one person or a small group of people get the urge to "do something" about the problems of young people. They often find many youth-serving agencies already in operation and many sympathetic listeners. But the momentum of their enthusiasm may slow down in the face of financial, technical, or traditional limitations.

It is quite likely that community-wide co-operation within relatively small geographic limits is the most effective attack on the youth problem. In such a program, local strengths can be used, and local leadership can command continuing co-operation. Furthermore, a pooling of many small financial contributions can result in sufficiently large financial backing to make the program work. Five years ago—in September, 1938—the author was invited to speak before a group of county principals and teachers in North Dakota on the problems of guidance and counseling. The case history of the guidance program that followed is an illuminating example of community support and community effort.

Background

North Dakota is a sparsely settled, primarily agricultural state, having only nine cities with a population of more than 5,000. Cass County, with a population of 52,000 on the eastern border of the state in the fertile Red

River Valley, is one of the most prosperous of all the counties. Fargo, the county seat and the largest city in the state, has a population of 32,000. It is one of the main distributing centers for agricultural products and a large retail trade center. Throughout Cass County there are 22 four-year high schools with a total enrollment of about 2,300 students. Of these students, Fargo Central High School includes about half the student population, which leaves an average enrollment of about 50 in each of the other high schools. Each year the graduating classes in the county turn into the community about 450 to 500 seniors and the Fargo Central High School graduates more than half of this group.

On file in the city branch of the State and Federal Employment Office there were between 1,000 and 1,500 young workers for whom placement was difficult, if not impossible, either because they had no work experience to satisfy employers' demands, or because limited placement opportunities were available in a relatively narrow band of occupations.

In addition to the guidance and adjustment problems of youth in school and youth applying for jobs, other community agencies were trying to help young people. The N. Y. A. program for out-of-school youth attempted to provide limited work experience of value to the individual. But without knowing the individual potentialities, the work experiences so provided were not always suitable. In other instances, recreational programs through the Y. M. C. A. and similar organizations were available but were not always used by the young people whose social adjustment would be improved by the program, either because of financial limitations or because the very shyness at the heart of the social adjustment problem prevented the young person from making the contact by himself.

It would be difficult for any one agency in a community so defined to maintain extensive and technically competent guidance activities; so the stage was automatically set for some type of co-operative program. The community was progressive and proud of an already excellent record of community participation in the United States Office of Education Adult Forum Project and a community health demonstration project tried out experimentally several years before under the auspices of the Commonwealth Foundation. Therefore, not only were the community resources such that community co-operation was essential but also members of the community in all walks of life had previously engaged in co-operative enterprise for improvement of community conditions.

Development

In August, 1937, an informal group called the Fargo-Moorhead Vocational Guidance Association planned a series of occupational information programs for young people in the community. The entire emphasis in the meetings was placed on supplying occupational information only, without attempting to relate this information to the individual capacities and interests of the young people involved. The County Superintendent of Schools in subsequent months became further interested in the possibilities of guidance work, and in September, 1938, arranged for the author to discuss guidance programs at a meeting of county school men and other interested individuals. The discussion followed the lines described in the earlier chapters of this book.

This discussion evoked enough comment so that the Superintendent was willing to undertake a demonstration program for experimental purposes. One hundred high-school seniors and juniors predominantly from the county high schools were given a group test battery which included Strong's Vocational Interest Blank, the American Council on Education Psychological Examination, the Iowa English Placement Test, the Bell Adjustment Inventory, and the Minnesota Vocational Test for Clerical Workers. Admittedly, this battery did not tap all the potentialities of the young people, but on the other hand it was a more extensive assay than had previously been taken and it was the most effective battery within time and money limitations.

With appropriate revision in norms it could be safely assumed that the individual tests were applicable to the population in Cass County. It was then necessary to demonstrate that individual counseling interviews following upon testing could be adapted to the resources, the types of problems, and the economic limitations of the individual students.

The author visited Fargo periodically once a month for two to three days to carry on counseling interviews with the young people who had been tested. The students' enthusiasm for the service was the first outstanding result of these interviews. In individual cases placement resulted from test evidence, where placement on the basis of experience would have been impossible, and in other cases practical educational plans were mapped out to increase the student's possibilities of successful placement. In still other cases, community resources were marshalled for the solution of personal problems, and curricular modifications were suggested to school men as another technique for helping the young person.

Throughout this phase of the development of the program, interested community members attended lectures and demonstrations on the problems and techniques of guidance. The principal of the Fargo Central High School asked to have some of his seniors included in the testing and counseling and this was done.

Two loosely organized committees were set up with two purposes: one, to broaden the base of the demonstration project by arranging to finance a testing program in the spring for all graduating seniors in the county; and two, to find ways and means of making a community guidance project a permanent activity.

In the spring of 1939, all graduating high-school seniors were tested with the same battery already described and with the addition of the Revised Paper Form Board as a judgment-making device for those mechanical activities in which many of the students would eventually make their living.

Financing the Program

Out of the meetings of the organization committee there evolved a plan whereby the superintendent of the city schools, the superintendent of the county schools, and the North Dakota Agricultural College undertook the first financing of a permanent guidance center. The superintendent of schools in the city not only housed the project but also persuaded the school board to invest a sum of money in the work. The superintendent of schools in the county persuaded the county commissioners to allot money to the guidance center even in a period of drastic scaling down of allotments from tax money. The president of the college set aside a sum of money for the work and permitted the consulting services of his technical personnel officer to be used. Since the college draws about 40 per cent of its entering class from Cass County, the president of the college felt he had a stake in any program for more effective guidance.

Funds from these sources in addition to workers assigned by the National Youth Administration program permitted the employment of a full-time counselor who spent the summer interviewing a large number of the high-school seniors tested in the spring. These interviews were carried on with those young people who did not plan to go on to the college and in cases where the student did plan to go on, the test data were forwarded to the personnel officer of the college.

Community Participation

By the end of the summer of 1939 the community support for guidance had grown and crystallized. It was felt that upon the basis of past experience with the testing and counseling of youth in the county a permanent organization should be established. At a meeting of representatives of all the youth-servicing agencies in the county, as well as representatives of service clubs and other interested organizations, it was decided to establish a permanent community guidance center and to select an executive board to control its activities and to develop a guidance program. The membership of this board was composed of the following: Fargo superintendent of schools; two members of the Fargo board of education; county superintendent of schools; personnel director of North Dakota Agricultural College; one representative from each of the following—County School Officers' Association, County Welfare Board, Community Welfare Association; and one member from the community at large elected by the other members of the board. Accordingly, a board of directors was elected and became the administrators and legal entity of the proposed guidance center.

After the board of directors organized and elected the usual officers, a director of the community guidance center was selected. His training in statistics, tests and measurement, and clinical work provided the technical direction which many community programs lack. A regular meeting was scheduled for the second Thursday in each month. The board was also divided into three standing committees which considered each problem with the director before it was brought before the entire board. This proved to be a valuable timesaver, inasmuch as many of the details were settled and recommendations prepared without using the time of the entire board. The administrative committee considered and reported to the board on problems of administration, personnel, publicity, and public relations. The technical committee recommended the tests to be used, techniques to be employed, methods of referral, office forms and reports, and reports to other agencies. The finance committee planned financial support for the center, set fees, determined salaries, and approved expenditures.

To provide continuous community participation, an advisory council composed of one representative from each of twenty-three agencies in the community dealing with youth programs was established. This advisory council had the task of making recommendations regarding the service of the guidance center and keeping up the interest of the agencies in the work of the center. They

held periodic meetings and heard the reports of the board of directors. The advisory council served as a clearing house of information regarding youth. At times they were requested to furnish specific data on individual youth who had gone to several of the agencies.

Frequently, they discussed ways of making effective solutions of special case problems by co-ordinated effort in harmony with recommendations based on the findings of the guidance center. The individual agencies agreed to accept referral of cases from the center when it was determined that the nature of their particular organization and its services would enable them to deal most effectively with the case in question. This program facilitated the movement of cases to and from the guidance center as well as from agency to agency, insuring the maximum benefit to the youth involved.

Relations with Young People in the Community

To encourage the participation of young people in solving their own problems, representatives of the high schools in the county were asked to establish a youth council, whose members would automatically retire at the age 21. The response to this request was immediate and enthusiastic. The youth council undertook two projects, the first of which involved indexing for use of young people the available community resources and agencies in the county. The second project involved a follow-up questionnaire study of the county graduates of the class of 1933. Two members of the youth advisory council were elected to the senior advisory council for the community guidance center to make suggestions to the senior group on improving service to youth from the standpoint of youth themselves.

Technical Supervision and Methods

The functions of the director of the community guidance center were to administer all its guidance activities, which included the testing and counseling of individuals, instituting and maintaining proper records, conducting research, maintaining public relations, and providing other informational and educational services of a guidance nature. The director of the guidance center had available in his office a wide range of group and individual tests. From them a basic battery was selected and given to all high-school seniors. The tests included in this battery were: American Council on Education Psychological Examination, Cooperative English Achievement, Bell Adjustment Inventory, and Strong's Vocational Interest Blank. Additional tests

were selected to supplement this basic battery in individual cases where additional test evidence was deemed necessary.

The director of the guidance center was empowered to travel to county high-school centers for testing and counseling purposes where such travel simplified the process for the student. The board of directors established a scale of fees for individual diagnostic services because of limited financial resources of the center. Any student or case referred by a contributing agency was handled free of charge. Any case referred by a co-operating agency holding membership on the advisory council was handled for a charge of $2.50. So that guidance would be available to the entire community, any private individual not covered by these categories, received the service for $7.50. Furthermore, any local school board in the county was regarded as a contributing agency by payment of a fee of $1.25 per student tested and counseled in their school.

In working with any one individual case, a preliminary interview was followed by three to eight hours of testing, and this, in turn, was followed by one or more counseling interviews, after which a report was sent to the appropriate community agency whose resources would help solve the problem. The work report for the month of November, 1939, was typical of the early stages of the project: 141 cases were given 728 tests and 100 interviews were completed in that month, with 85 typewritten reports on individual cases sent to the referring agencies.

In addition to individual diagnostic services, the director of the community guidance center maintained a speaking schedule for the purpose of continued community support and publicity. He maintained as well a traveling library of occupational information available from published sources such as the *Vocational Guide* and from the United States Office of Education. As a third service, he abstracted and collated current information about new occupations and distributed this in mimeographed form.

The operation of the community guidance center played an important rôle in the locality in which it was established. It made a definite contribution to the individual youth served. It developed a community consciousness of the need and importance of guidance, and as an educational medium, contributed materially to the growth and stature of guidance throughout the state as its activities became more widely known. It served to emphasize the point that it is far easier to help individuals if the areas in which help is needed are better known and the resources of assistance are known and

coordinated. Finally, as a successful demonstration unit, the community guidance service demonstrated the feasibility of a guidance program in a predominantly agricultural community. It served as a laboratory for the development of techniques and procedures which could be adapted to a state-wide program.

Broadening the Service

Early in the development of the program, requests came from many sections of the state for an extension of the services of the community guidance center. The state supervisor of home economics education in her travels throughout the state became impressed with the need of guidance service on a state-wide basis, and suggested to the board of directors and the director of the community guidance center, the possibility of obtaining federal support for a state-wide program. Subsequent investigations by the director of the center further indicated that such aid might be available. The state director of vocational education, and the other divisional heads of the Smith-Hughes and George-Deen Acts within the state, became interested in the project and co-operated with the director of the center in drafting an amendment to the existing state plan whereby federal funds from these two acts could be matched with local funds that were available to expand the guidance services in the state.

Under the interpretation of the United States Office of Education, Smith-Hughes and George-Deen funds can be used to establish a state division of occupational information and guidance. This had already been done in the State of Maryland, as one example, and the North Dakota amendment to the state plan was modeled in part on the Maryland structure. This amendment was approved by the state board of vocational education and the United States Office of Education, and became effective July 1, 1940. The plan as approved provides that 40 per cent of the cost of maintaining a state occupational information and guidance service is borne by the federal government. The following introductory statement, quoted from the state plan, sets forth the need and the functional purpose of a division of occupational information and guidance:

"Properly selected pupils are among the prime essentials of efficient vocational schools and classes.

"The selective process, to avoid waste of vocational education funds, should take place before the pupil enters upon vocational training. It follows that the pupil must make his choice on a basis of information

about his own interests and abilities, and about wages, working conditions, and possibilities of continuous employment, acquired before the critical moment of his choice of specific training for an occupation.

"Enrolling officials in vocational schools can likewise function efficiently only if they also possess similar knowledge of occupational information and pupil inventory before acceding to, or directing the enrollment of a pupil for specific training.

"The vocational school, itself will, in turn, continuously utilize related kinds of information during the process of training, placing, and following up its pupils. In addition many other persons in school and out will defer or change their decisions with regard to their occupations. Further problems in occupational information and guidance are presented by this group.

"From these premises, it follows that 'providing for the further development of vocational education in the several states and territories,' to quote from the opening sentence of the George-Deen Act, requires first, the improvement of the ability of teacher counselors, both in schools from which vocational classes draw their pupils, and in vocational schools themselves, to secure and use facts about occupations, and facts of occupational significance about their pupils; and second, the improvement of these teacher counselors in the use of the necessary techniques in applying these facts to the wise counsel and guidance of pupils."

Quoting further from the state plan, the following duties of the state supervisor of occupational information and guidance clearly indicate the scope and nature of the state guidance program, and indicate the general objectives toward which the program is pointed:

"Studies and investigations:

1. He shall study employment conditions in the state as a guide to occupational information.
2. He shall survey the school facilities of the various communities to ascertain the best means for establishing programs of occupational information and guidance suited to the individual communities.
3. He shall prepare plans, programs of guidance, and literature on studies, surveys, and investigations in the field of occupational information and guidance.
4. He shall ascertain and recommend such equipment, library materials, and other supplementary supplies and facilities as will be needed to make a program of occupational information and guidance effective in the several school units.

5. He shall promote throughout the state follow-up studies of graduates and former students in secondary schools and particularly all vocational schools and classes in order to reveal from the experiences of such school-leavers better ways of serving the individuals in the schools and of adjusting school programs to individual needs, both in wage-earning and non-wage-earning occupations.

"Promotion:

1. He shall counsel with school authorities, such as superintendents, principals, and supervisors, desiring information regarding establishment of programs of occupational information and guidance and he shall aid in the organization of such programs as have been approved by local school authorities.
2. He shall make a special study of the needs of rural and semi-rural school units with relation to occupational information and guidance, with a view to promoting a program suitable to these needs. He shall investigate the possibilities of cooperative effort in providing personnel, equipment, and occupational information and guidance programs in rural school units, which because of small enrollment or other reasons, may be unable to provide complete programs for themselves.
3. He shall promote training of teacher counselors in occupational information and guidance, and advise with teacher trainers on all matters pertaining to the improvement of the program in the state.
4. He shall aid in the development of the program by making his services as a speaker available through civic groups, parent-teacher organizations, teachers' meetings and conferences, and similar groups, setting forth the basic principles of a sound and effective program of occupational information and guidance.
5. In the promotion of occupational information and guidance programs, he shall work in close cooperation with existing agencies, public and private, which contribute to the advancement of the various objectives of the program.

"Supervision:

1. He shall have general supervision of the occupational information and guidance programs in public schools of secondary grade in the state.
2. He shall study means of improving the professional preparation of teacher-counselors or other persons who are designated in individual schools to carry on programs of guidance. He shall promote means

of in-service training of teachers and counselors, as well as the work of teacher-training institutions in guidance.

3. He shall conduct, in cooperation with local authorities, group conferences and meetings for the purpose of improving local programs of occupational information and guidance.
4. He shall devote a considerable portion of his time to making supervisory visits with the various teacher-counselors in order to improve the work of teacher-counselors in service.
5. He shall cooperate with teacher-training institutions in their efforts to prepare teacher-counselors and to improve counselors in service.
6. He shall cooperate with the various supervisors, coordinators, and teachers of vocational education in the State and in local communities to make the benefits of a guidance program available to vocational schools and classes.

"Records and reports:

1. He shall prepare in advance an agenda or program of each year's work and present it to the Director of Vocational Education.
2. He shall be responsible for all reports and records for local programs as required by the State Board for Vocational Education, and shall report to the State Director of Vocational Education.
3. He shall report all findings to the State Director of Vocational Education and in addition he shall make an annual report."

The director of the community guidance center was selected by the state board of vocational education as state supervisor of occupational information and guidance, thus knitting closely the state service to the existing community guidance center. The state board also appointed a state advisory council. The state office was housed jointly with the community guidance center in quarters provided by the Fargo Board of Education. Inasmuch as the state legislature was not in session, the funds of the community guidance center were matched with federal funds to provide financial support for both the state service and the guidance center, which now served as a demonstration guidance unit for the state as a whole.

Previous to the establishment of the state service, any guidance programs which may have developed within the schools of the state depended entirely upon the interest and initiative of the various school leaders themselves. Before a state program could operate effectively, it was deemed necessary to determine by means of a survey the extent and practices of guidance functions throughout the state. Table 15 below indicates a sampling of the guidance

services maintained by the high schools in North Dakota. Column 1 indicates the type of guidance service or function offered; column 2, the number of schools reporting the practice of such service or activity, and column 3, the percentage of the total schools of the state reporting.

This table is certainly indicative of the lack of guidance practices then existing in North Dakota. It must also be noted that the figures given in Table 15 in no way indicate the quality of the various practices listed. Certainly in many cases, although the guidance function is claimed, much additional work would be necessary to bring it to a level of minimum efficiency. The scope of the efforts required would necessitate a much larger

TABLE 15

GUIDANCE SERVICES OF NORTH DAKOTA HIGH SCHOOLS

Guidance Service	Number of Schools Reporting the Service or Activity	Per Cent of Total Reporting
Maintain cumulative records	39	24
Offer individual counseling service	67	41
Maintain a vocational file of pamphlets and clippings	37	23
Maintain a vocational shelf in library	64	39
Give standardized tests	61	37
Offer classes in occupations	81	50
Practice follow-up of graduates	50	31
Contact and check drop-outs	47	29
Maintain school placement service	13	8
Co-operate with Public Employment Service	15	9
Hold group guidance classes	35	21

staff and outlay than was available. An additional factor to be considered was the wide scattering of the some 600 secondary schools. Therefore, the state advisory council of the occupational information and guidance service and the state supervisor decided that the most feasible approach to establishing a guidance service in the state was to concentrate the greater part of the effort in one county as a demonstration unit, and to develop techniques, principles, and procedures in that center which would point the way toward a complete state program. Thus the community guidance center became the demonstration unit for the new state service. Efforts outside the demonstration center were largely confined to distribution of informational materials,

and laying groundwork for future expansion of guidance services by developing a consciousness of the need for guidance and the benefits that would accrue from the establishment of such a program.

It is of interest to trace the progress of the community guidance center as it served as a demonstration project for the state. Prior to this time, the center assumed the entire responsibility for providing a co-ordinated guidance service for each co-operating school, based upon methods of clinical analysis and individual counseling of each case described in these pages. A change in this emphasis was made necessary because financial limitations and lack of personnel would not permit development of any extensive state program if the individual testing and counseling load of all schools were to be borne by the state supervisor at the local demonstration center. Accordingly, the community guidance center attempted only to reinforce the local guidance program by carrying on in-service training of teacher-counselors so that the local schools would tend to become more and more self-sufficient.

Material taken from the director's report of the center's activities will serve to illustrate the procedure used in co-operating schools. In the schools of Cass County, students were given a battery of vocational aptitude tests, and instruction on the basic principles of counseling was given to a member of each local faculty. The first step in the instruction was to lay a groundwork of the techniques of counseling, and general procedures in interpretation of case material. The next step was to take representative cases that had not yet been counseled and to go over them thoroughly, identifying crucial points upon which decisions might be based.

This step was followed by a demonstration interview conducted by the trainer. No completely satisfactory system has been devised for observation of a counseling interview whereby complete rapport can be guaranteed. Use of screens has been but partially satisfactory and sound systems are not available in the ordinary secondary school. Holding a 3-way interview with the trainer, trainee, and counselee present proved to be the most satisfactory method. In following this system, it was necessary to pre-select the type of student from whom maximum co-operation might be expected under the circumstances. Although the trainee was present and participated in the interview, the trainer guided the conversation so that the problems presented by the student were discussed in the approved manner. At the end of the interview, the trainee wrote the case notes under the direction of the trainer.

An attempt was made to have the irrelevant material culled out and only

such record made as would give meaning to test scores and interview data. From this viewpoint, case notes were regarded as functional rather than a complete reproduction of the interview. After this preliminary training, the trainee proceeded to counsel his own student cases, followed by a critical analysis by the trainer of his techniques and case records with suggestions for improvement. This system of training in-service counselors in the smaller secondary schools has proved to be a most satisfactory method.

The training of individuals to counsel students in their schools necessitated the transfer of case records from the central files of the community guidance center to the respective local schools. The co-operating schools varied somewhat in the nature and extent of school records. The policy of the guidance center was not to insist upon uniform records, but upon a record system that was complete and well-adapted to the needs of the individual school. In some schools, individual cumulative records were begun for all students in the entire school system. In three of the co-operating schools, the cumulative record systems already found to be in use were supplemented or revised. The quality and extent of the records instituted and maintained by the local school systems was in a large measure dictated by the local financial resources and personnel available. In the Fargo city school system, it was possible to institute a much more complete record system than in many of the county schools.

Here it was found, after considerable research and experimentation over a period of time with several record systems, that a folder system with mimeographed inserts was preferable from the standpoint of utility and permanence to a system of printing the record directly on the folder. The system developed provided for five inserts, 8½ x 11 inches, each of which contained information in one of the following areas: socioeconomic history and status, scholastic record from grade one through high school, health record, test information, and a record of case notes and teacher observations. The development of this system was stimulated not only by the demand for an adequate record system for guidance purposes, but also by a comprehensive achievement testing program conducted throughout the city school system which revealed the inadequacies of existing record forms.

The Program of the City School

The following paragraphs will describe in some detail the guidance system developed in the Central High School of Fargo. Much more experimentation

was possible in a larger school system of this type where materials and finances are more readily available. Certain principles and techniques were worked out which contributed much to available data supporting the policies to be followed in developing practices for the smaller schools and for the state at large.

The counseling system in the Fargo high school consists of twelve teachers, each of whom is released from one hour of teaching time a day and has the responsibility for approximately a hundred students. These teacher-counselors were responsible for the scholastic endeavor of all students under their supervision, and for their satisfactory educational guidance. The teachers were carefully selected with regard to interest in guidance work, ability to deal with students tactfully, and educational background and preparation. They were trained as previously outlined. In addition to periodic meetings with the state supervisor for instruction and training, the teacher-counselors have their own organization which meets to discuss the various problems and techniques related to counseling.

The Fargo high school has a dean of boys and a dean of girls, who in addition to offering group guidance classes, are charged with the responsibility of maintaining discipline. All discipline is administered by these deans so that rapport between students and teacher-counselor is not impaired. However, teacher-counselors assist in the rehabilitation of discipline cases. The work of the teacher-counselor has in the past been supervised by the director of the guidance center, but a larger share of the supervision will be borne in the future by the dean of women as her training and competency increase.

The teacher-counselors initiate one conference with each of their advisees every semester to plan his program for the coming semester and to make a periodic check of his adjustment in school. Any classroom teacher who feels that a student is not working up to capacity fills out a blue slip which indicates the reasons for probable failure. This blue slip is then countersigned by the counselor and sent to the parents asking them to come to the school for an interview. If the counselor desires additional information before signing the slip, he can request the classroom teacher for more complete details on the reasons for failing work, the remedial steps that have been taken, and other pertinent data. At the first signs of scholastic maladjustment, the classroom teacher uses a white slip which is indicative to the counselor of a need for treatment. If the counselor feels after an interview

with the student that it would be helpful to have the parents visit school, he can request the classroom teacher to issue blue slips.

The students' folders described above are placed in a central file where they are accessible to all teachers. If a teacher uses a case folder, her signature is placed on a record card in each folder which indicates the extent the file is utilized and which teachers are most interested in the progress of a particular student. Realizing that counseling was one part of the total guidance program, twelve faculty committees were appointed, each dealing with one phase of the total program. Each of the committees was headed by a chairman who in turn was a member of the general guidance committee. The general committee, composed of the chairman from each subcommittee, met monthly to consider recommendations of each of the 12 committees and to prepare group recommendations to the school administration.

The twelve committees with the functions of each are listed below:

1. *Student and Record Articulation:* To study the articulation of students and records between junior and senior high schools. In the light of the study to make recommendations and draw up a program striving for better articulation. To improve registration procedure and formulate a program for orientation of entering students.
2. *Student Cumulative Records:* To study the cumulative record system, the collecting of information, filing, use of records and forms. To make recommendations for better records and to improve their usefulness.
3. *Testing and Evaluation:* To study the testing needs of the school and to plan a program to meet these needs. To conduct surveys, evaluate, and set up a permanent system of testing. To educate teachers in the proper interpretation of these tests.
4. *Curriculum Research and Revision:* To study the present curriculum and to work for curriculum revision to meet the needs of students. To work for a course of study which will better meet the needs of non-college students as well as college students.
5. *Homeroom System:* To make a study of the purpose, function, and value of the present homeroom system. To evaluate and make recommendations for the necessary reorganization, elimination, or continuation of this system.
6. *Pupil Attendance:* To study the attendance, punctuality, recording procedure, excuses and permits. From this study organize a procedure making for better co-ordination and efficiency.

7. *Student Extracurricular and Social Life:* To study the social and educational club system, student social life, extracurricular activities and the general welfare of the student body. To make changes and suggestions for a program of more wholesome social life.
8. *Youth Guidance Committee:* Through the student council to organize a guidance committee to carry on some guidance functions. To secure co-operation in carrying out guidance plans. To make surveys and through the student school governments help better their own vocational and educational possibilities.
9. *Vocational Aspects:* To make a survey of library and other school facilities. To organize a vocational guidance program by bringing into play and co-ordinating all facilities in the school and the community which may aid students to better select and prepare for an occupation.
10. *College Information:* To make a study and to collect information aiming for better articulation of students to college.
11. *Special Student Problems:* To study conditions and draw up procedures to deal with physically defective children, discipline pupils, and pupils of abnormal intelligence, and various other special pupils.
12. *Teacher In-Service Training:* To devise plans to bring before all teachers the necessary information to make for a well-rounded guidance program, and to interpret the program to the parents and the community.

In order to increase the effectiveness of the guidance program in the Fargo city schools, a close co-operative relationship was worked out with the local branch of the state employment service. The school provides the employment service with the student's scholastic and test record, observations and ratings by three teachers, and a summary of his contacts with the guidance department for all students of the Fargo schools who register at the employment service. This information facilitates placement, and the young people, as a result, have a better chance to identify themselves with occupations which are in keeping with their interests and abilities. In many instances students do not know, or say that they have not heard, of the employment service when they are advised to register. This co-operative enterprise between the school and the employment service will be continued, and an even closer relationship developed as time goes on. As one ultimate goal of all

guidance effort is satisfactory occupational adjustment for each individual so that he may take his proper place in society, no guidance program can overlook the placement phase.

In addition to providing occupational information during individual interviews, it is necessary to disseminate certain occupational information of common significance to larger groups. An open shelf in the library containing books, pamphlets, and magazines on occupations and careers was one method; holding a series of career conferences was also found to be a valuable technique. On three successive Wednesday afternoons, local businessmen and women, and professional as well as non-professional workers, were invited to come to the school and to lead a discussion on their particular field of work.

By running a tally of students' interests before arranging the conferences, a series of 18 meetings was arranged that covered the major fields of interests as indicated by the students. The survey of interests that was made preliminary to the career conferences is in itself indicative of the need of occupational information and guidance. The following article is quoted from the *Cynosure* of Fargo High School of June 6, 1940, and shows the unbalanced distribution of student claimed choices:

"Citizens would have to get out bowls and scissors and do their own haircutting if the students of Fargo high school were to become the sole inhabitants of a city ten years from now, according to the occupational questionnaire filled out by students recently.

"Although no boys would become barbers if given their choice, the girls would be kept presentable by the nine beauty operators. This is a contrast to a survey taken in a New York high school in which five out of 1000 boys chose barbering.

"Factory workers in this mythical city—both of them—would have a fine time with no manager. One cook would be kept busy serving 29 dieticians, while all workers would either have to employ the services of one of the 66 aviators to ride to work, or else walk, no taxi drivers or chauffeurs being available.

"Since there would be only one politician, the city government would be definitely a dictatorship. There would be five agricultural scientists to give instructions to three farmers, the only representatives of North Dakota's leading occupation.

"Although stenography is one of the best fields available for young men, according to C. P. Froehlich, Director of the Community Guidance

Center, and conductor of the survey, only two Fargo high boys indicated an interest in this field.

"Each of the three orchestra leaders would be allowed three and one-third musicians for his orchestra, while 14 actresses would have to share one leading man. Because of the absence of watchmakers, there would be no convenient method of telling time, and since no tailors for men would be in evidence, the male portion of the population would probably have to wear barrels after a few months of residence in this city.

"Only two boys plan on being statisticians although that is one of the fastest growing occupations today. All the buildings in a town of Fargo high-school students would have to be of wood, as a contractor would be unable to hire a bricklayer.

"Noticeable would be the absence of those in domestic and personal service, which rates fifth from the top in percentage of workers in North Dakota, 750 such workers being employed in Fargo."

State-Wide Promotion

Certain state-wide activities were carried on in addition to the demonstration guidance center which has been described above. These activities, with the exception of those connected with national war training program, were, of necessity, promotional in nature. Basic to the plan of expanding the guidance service in the state, an effort was made to acquaint all schools of the state with the guidance facilities available for their use. Accordingly, circulars were prepared and sent to some 600 high schools throughout the state of North Dakota. Typical circulars were those announcing the establishment of the state service in North Dakota; *A Six-Point Program,* emphasizing the minimum essentials of guidance, and miscellaneous guidance literature and pamphlets received from the United States Office of Education and other sources. A circulating library of occupational information was also made available to schools on request.

The state guidance service provided technical consultation to those schools who requested it. The service presented to the individual schools the principles and functions of a guidance program and how it might be established and offered assistance in setting it up. Several of the schools in the state took advantage of this opportunity and made provision for the state supervisor to visit their school and to initiate a program.

To further the interests of guidance throughout the state, the state supervisor made it a point to attend special meetings and conventions of North

Dakota educators. Whenever possible, speakers from outside the state were also brought in to special meetings. These speakers discussed everything from the technical phases of guidance to frankly inspirational aspects of the program. The state supervisor was invited to appear as the principal speaker at a regular meeting of the Williams County Schoolmasters Club at Grenora. This organization was keenly interested in what might be done in its county to initiate guidance services in its respective schools. A six-point program of minimum essentials of guidance was presented and general recommendations made. It has also been the practice of the state supervisor to discuss the guidance program on invitation before service clubs, educational meetings, and other interested groups. During the first year approximately thirty-five such addresses were given.

In order that the largest possible number of teachers in the state of North Dakota might be trained in the basic concepts of guidance pertinent to the success of the state plan, the state supervisor arranged to rotate his services as instructor in a regular credit course in guidance in a different institution of higher learning each summer.

To evaluate the techniques and progress of the guidance program, research activities and follow-up studies are constantly carried on in the office of the state supervisor. Among the projects completed are: a survey of guidance practices in North Dakota; revision and evaluation of an interest inventory; development of a cumulative record system; and evaluation of comparative scores obtained by rural and city youth on tests administered under the demonstration program.

War-Time Services

With the national emergency and appropriation of funds by the federal government for the training of defense workers, North Dakota made definite provision in its state war plan for use of funds and the employment of personnel for "determining the aptitudes and abilities of trainees for the purpose of developing instructional material and procedures to serve the individual needs of the trainees." Accordingly, the occupational information and guidance service played a definite part in the war program. Its activities in this connection contributed materially to the furtherance of guidance interest and consciousness throughout the state through contacts made with several hundreds of boys representing practically all its geographical areas and communities.

No clearer statement could be made of the nature and procedure of the program instituted than the report of the state supervisor published through the courtesy of the Vocational Guidance Films, Inc., which is quoted below:

"The occupational information and guidance service for North Dakota is charged with the responsibility of providing a guidance program for some 800 boys who are certified by the National Youth Administration for training in national defense classes. These classes are being held in some 20 different centers throughout the state. The training that is now offered to the boys is of an exploratory nature. The basic principles underlying many of the mechanical occupations are being taught in a six months' general shop course. After the youth have completed this general shop course, they will be given specific pre-employment training in some occupation essential to national defense.

"The guidance service is following a four-point plan in aiding these students to make a wise choice of the occupation for which they should prepare. This plan will be presented under four headings: Visual Education, Occupational Instruction, Instructor Ratings, and Counseling Service.

1. Visual Education

"North Dakota is unique in its part in national defense preparation in that it has practically no industries associated with the production of necessary materials and equipment. It is therefore impossible for the boys in defense training classes to visit such industrial plants for first-hand information on actual working conditions surrounding the various defense occupations for which they may prepare. Good guidance practices dictate that occupational information is essential to good occupational choice. It therefore is necessary to give the students as clear a picture of conditions of work in the huge industrial plants as possible, and visual education by means of slides and film strips seemed the most logical answer to the problem.

"The visual education films are presented in two phases, designed to correlate with the instructional material offered on occupational information and guidance. In the first phase, while the student is exploring his own interests and abilities, films are shown on how to choose an occupation, how to apply for and win promotion on a job, and other subjects of a general nature applicable to any vocational choice. In the second phase, the films are of a more specific nature, giving students information on their tentative choices made. Topics were Auto Mechanics, Sheet Metal Work, Metal Trades, Building Trades, Welding, and Machine Shop.

"The importance of visual materials cannot be over-emphasized in instruction. Accurate occupational settings are stimulating and effective in giving a real "feeling" of occupational life. They also make other instructional material more significant, and make more vivid the discussion material presented in the regular classes.

2. Occupational Instruction

"The second point in the four-point guidance program is the preparation of units of instruction on topics essential to wise occupational choice. These units are prepared for instructors as a guide in teaching guidance subject matter a minimum of one hour per week. The units are set up with general and specific aims, lesson materials, topics for class discussion, class exercises, summary, and bibliography.

"The subject matter of the units is also geared to the progress of the student through his exploratory experiences to occupational choice, specific training, and actual employment. Therefore the first units take up subjects relating to the individual, such as need for occupational information, need for guidance, occupations and abilities, discovering abilities, interests, personality and the job, and attitudes.

"Another series of units deals with factors outside the individual such as analyzing the job, job specifications, how to study an occupation, various training resources, and similar topics.

"A third series of units deals with the student's active effort to gain entrance into the field of work. Typical topics are job trends, preparing to apply for a job, making application, holding a job, securing promotion, what the employer expects of his employee, and the value of an avocation.

"A final phase of the instruction deals with employee organizations, and legislation affecting workers. Labor unions, social security, workmen's compensation, and license requirements are some of the topics.

3. Instructor Observation and Ratings

"The third step in the guidance program involves the instructor who has first-hand knowledge of the individual and his reactions to the various experiences he is subjected to in the shop activities. Periodic ratings of his students by the instructor tend to objectify his observations, and furnish the guidance service with additional bases for the selective processes that will follow. In addition to ratings, the instructor is encouraged to extend his remarks on the back of the rating sheets indicating his recommendations for each individual student, the student's greatest problems, interests, and similar information.

4. Counseling

"The fourth and final step in the guidance program is the counseling service. In many respects, the counselor is the co-ordinator of all the materials, ratings, opinions, and observations that are available concerning each student. It is his task to bring all the available facts together and, with the student, interpret them in determining the best possible occupational choice. In addition to the data obtained by the instructor and a report of the student's progress, interest, and achievement in his shop and classwork, the counselor also has test results on general ability, mechanical aptitude, dexterity, and interests. The results of the tests are compared to the instructor's findings and recommendations, and outstanding differences are discussed fully and the cause of each difference is sought. All the information is then pooled, organized, and interpreted in an individual conference with each student to aid him in making a final occupational choice.

"Thus the Occupational Information and Guidance Service in North Dakota is meeting its dual responsibility of devising a selective process to obtain the best possible trainees for industries vital to national defense, and at the same time provide the individual with such information and counsel that will insure him continuous and profitable progress in the occupational life of the nation."

With the sharp increase in the demand for trained mechanics for war industries, a veritable flood of advertisements and agents appeared in North Dakota soliciting students to take private school training for occupations related to defense. An investigation of these schools was made through chambers of commerce, better business bureaus, governmental agencies, contact with former students, and by direct contact with employing firms to learn of their hiring habits with respect to type and quality of training offered by these schools. It was learned that many of the schools charged exorbitant fees, accepted applicants indiscriminately, regardless of qualifications or abilities, and that they made a practice of pressure salesmanship and "guaranteed" employment. The occupational information and guidance service launched a counter-crusade against these schools through the press, service organizations, educators, the state employment service, and by contact with all other agencies dealing with youth. Prospective trainees were also advised of reliable training opportunities within the state in defense classes, and in the state's trade school. It is estimated that thousands of dollars in fees were saved the people of the state by this action.

Legislative Support and the Future

A milestone in the progress of the developing guidance program was reached when the North Dakota Legislative Assembly of 1941 passed an appropriation for the occupational information and guidance service in North Dakota. Thus, the service in North Dakota is in a position to expand its services on ever-increasing bases for the benefit of the entire state.

Inasmuch as the occupational information and guidance service in North Dakota is new and its activities have been quite largely limited to the development of the demonstration center in Fargo and Cass County, contemplated activity for the ensuing years must necessarily first of all involve a continued effort in selling the value of guidance service throughout the state. In addition to increasing the dissemination of occupational information and guidance publications, it is planned to expand the consultation service so that more schools may have the opportunity to receive expert aid and advice in establishing a guidance program. Basic to this service will be an effort to establish adequate record systems throughout the schools of the state. Because of the financial condition of the state, it is impossible to recommend the employment of trained counselors for all schools. It is therefore planned to expand the program of training teacher-counselors to handle the guidance activities.

Patterned after the demonstration program conducted in Fargo and Cass County, plans will include the establishment of several additional demonstration programs so located that they are accessible to all schools of a certain area in the state. As defined by the state advisory board for the occupational information and guidance service, a demonstration center is "a school or group of schools under a single administration that accepts the responsibility for costs and local guidance personnel, and that is willing to conduct its program under the supervision of the state supervisor of occupational information and guidance."

Recently the state department of public instruction announced the following new criterion for accrediting of schools in the state:

> "A fully accredited or a minor accredited school shall include in its educational program an effective guidance service in helping pupils to adjust themselves to the environment of a complex civilization."

This announcement accompanied a request for detailed reports on existing guidance activities in each school, together with an offer of free consulting assistance from the state supervisor of occupational information and guidance.

At the present time, the North Dakota program is no longer a small local experiment. It is a full-fledged, state-wide activity in which guidance is increasingly practiced in every school in every community in the state. Local clinical centers are under way in which testing and counseling techniques are basic to effective guidance. From the central office of the state supervisor comes a constant flow of literature, consulting service, and experience which quickly filters down to students through teachers who are learning guidance skills on the job.

The small beginnings trace back to the experimental testing and counseling program for some hundred seniors in the fall of 1938. The county superintendent of schools squeezed out of an overworked budget the monthly consultation expenses for student interviews. By the fall of 1939 definite financial contributions from the city and county schools and other sources made possible the establishment of a permanent community guidance center with a technically trained director in charge, and with an executive board and supplementary advisory boards representing the community agencies and the youth themselves.

It should be emphasized at this point that the progress of the guidance program thus far was due to demonstrated worth and effectiveness based upon satisfactory results with individual students, and not upon purely theoretical or promotional considerations. Perhaps the most significant accomplishment of the community guidance center to this point was the demonstration of the feasibility of a guidance program in a predominantly agricultural area. Of almost equal significance was the fact that the center served as a laboratory for the development of principles, techniques, and procedures that were adaptable for other communities and for the state program that was to come.

The work of the community guidance center as a demonstration unit led to the amended state plan under the Smith-Hughes and George-Deen Acts. In 1941 the state legislative assembly appropriated state money for an expansion of the work. Three years were required to bring the program to its present state of development—three years of missionary zeal, technical consultations, personality clashes, research, competent but limited service to students, and begging for small but vital items of financial support. Now the main job can begin: teaching more teachers how to help more students by use of testing, counseling, and occupational information services.

Some thirty-seven or thirty-eight states in the United States today are with-

out an occupational information and guidance service; they may well take a page from the North Dakota record and use the community approach as a means of developing a state service. Thus North Dakota may have contributed materially, not only to the growth of guidance on a community or state scale within its own boundaries, but also to the success of this essential youth service to the nation as a whole.

This is only one case history of a community. It has been described at some length because of its extent, its special emphasis on the primary procedures of testing and counseling, and its early financial handicaps. The evolution of many of the most significant guidance programs is not easily to be found in the technical journals or texts, since the guiding spirits behind the programs are usually too busy to publish more than a few brief articles on their work. The bibliography for this chapter lists several sources of information that may be tapped by direct correspondence with the people named. Such an exchange of experiences, methods, costs, and obstacles will be invaluable to readers interested in "next steps." In each case, it is important to notice the *years*, not weeks or months, that elapse before the programs come to their fullest power and value. "Guidance" can't spring into complete existence over night; it can grow into a vital part of the school program if the teachers, administrators, and school boards give it fertile soil in which to grow.

We have come a long way with our students in these pages. They are rather important people, not only today, but also tomorrow, in a world that has several loose ends, to say the least. As teachers we are dedicated to the belief that education can start them well on the road to adulthood. The most effective education is one adapted to their needs and their abilities and interests, not one prescribed by tradition, administrative convenience, or "factory" methods. Testing and counseling and other guidance functions represent a series of skills which can be learned by some teachers as a means of making education do the job we all want it to do in a democracy.

Selected Bibliography

1. Bell, H. M. *Matching Youth and Jobs*. American Council on Education, 744 Jackson Place, Washington, D. C., 1940. 277 pp. Price: $2.00.

   Interestingly written account of practical youth-serving programs developed by the American Youth Commission and the Employment Service Division of the Social Security Board. Contains many guides and suggestions for local action.

2. Culbert, J. F. and Smith, H. R. *Counseling Young Workers.* Vocational Service for Juniors, New York, 1939. 212 pp. Price: $1.75.

A description, with detailed reference to the organization and administrative problems, of an excellent out-of-school service.

3. *Employment Counseling.* State Operations Bulletin No. 10, U. S. Employment Service Division, Washington, D. C.

A description of what the employment service will try to do for its applicants when teachers refer students, including the type of material the employment service needs from the school guidance program.

4. McCain, J. A. and Brayfield, A. M. *Teacher-Counselor Manual for a High School Guidance Program.* Student Personnel Division, Colorado State College, Fort Collins, Colorado, 1941.

An excellent example of a college's leadership in the local area, in an effort to make high school people effective guidance workers. The division probably has other mimeographed material available also.

5. North Dakota Occupational Information and Guidance Service, C. P. Froehlich, State Director, Fargo, North Dakota.

The materials available for distribution range from general guidance plans to specific class room units for job training and job finding. Write directly to the State Director.

6. Palmer, Jane M. *Junior Placement.* Children's Bureau, U. S. Department of Labor, Washington, D. C., 1940. 133 pp. Superintendent of Documents, Washington, D. C. Price: $0.15.

A survey of junior-placement offices in local employment centers or in public school systems, with descriptions of registration procedures, guidance, placement, follow-up, and special services. Check your local full-time or part-time employment center against these findings.

7. Richmond Consultation Service. *First Annual Report.* 620 East Main Street, Richmond, Virginia.

A report of the project operated jointly by the State Board of Education and the Virginia State Employment Service, with the co-operation of the National Youth Administration. Another type of local community-wide project, dealing mainly with out-of-school youth. Contains valuable suggestions for community action.

INDEX

Note: Author name and test references which appear in this index are taken from the text. See selected bibliography at end of chapter for additional references.

A

Ability, general academic
and achievement, 28f, 37
and occupational level, 95
correlations of tests with grades, 98
hints for testing, 97f
meaning of, 92ff
reliability coefficients of tests of, 98
role of, in diagnosis, 35
tests for, 99ff
Accredited schools, criterion for, 209
Accuracy in measurement, 74; *see also* Reliability
Achievement
and ability, 28f, 37
other estimates of, 36f, 104
tests of, 101ff
Adjustment Inventory, The, 125
Advisors in large schools, 17
Advisory council, 190
Aggressive behavior as symptom, 121
American Council on Education Psychological Examination for High School Students, 99
American Home Scale, 128
American Job Series, 134
Anecdotal records, 122f
mimeographed forms for, 135
Aptitudes, 37
and disabilities, 38
tests for special, 109f
Army Alpha, 96
Attention getting behavior as symptom, 121, 158
Average, meaning of, 47
methods of calculating, 47, 54f
significance of difference between, 79ff

B

Background for community guidance program, 186ff
Basic principles of measurement, 73ff
normal curve, 45, 57
reliability, 74f
representativeness, 52
sampling of behavior, 73f
unit traits, 73f
validity, 75ff
Bernreuter, R. B., 94
Bingham, W. V., 165
Board, executive, for guidance center, 190

Bright students
  and vocational choices, 33
  problems of motivation of, 34
  problems of personal adjustment among, 34
Budgeting time as a study aid, 153

C

Capacity; *see also* Overachievement *and* Underachievement
  measurement of, 24f
  students who work up to, 32ff
Carr, E. J., 94
Case notes, 198; *see also* Records
  form of, 182f
  purposes of, 180f
Cause and symptom, difference between, 144
Chances of occurrence of problems, 145f
Chronological age in I. Q., 93
Class intervals
  as short cut in statistical work, 52ff
  examples of, 53
  meaning and use of, 27
  size of, 53
Class sectioning
  for low ability students, 33
  for slow and fast learners, 96
Clerical Workers, Minnesota Vocational Test for, 110
Coefficient of correlation
  and prediction, 67ff, 71
  as index of reliability, 74f
  error factors in, 70
  explanation and illustration of, 63
  formula for, 72
Coefficient of correlation (cont'd)
  of high school and college grades, 101
  of tests with grades, 98
  rank order, 71
  verbal description of values of, 71
College courses in guidance, 20
College, number of high-school students who attend, 33
Commercial courses, incorrect use of, 32
Community program in North Dakota, 186ff
  advisory council, 190
  background, 186
  community participation, 190
  development of, 188f
  executive board, 190
  financing the program, 189
  in-service training, 198
  occupational information and guidance, 193ff
  records, 198f
  speaking schedule, 192
  state supervisor, 194ff
  technical supervision and methods, 191
  youth council, 191
Confidential nature of personnel records, 136
Conflicting theories about guidance, 21
Conversion scores, 60f; *see also* Norms *and* Equated I. Q.
Cooperative Achievement Tests, 107
Correlation; *see* Coefficient of correlation
Cost of tests, 86; *see also* Expense of minimum testing program

Counseling in guidance program, 164ff, 168, 208; *see also* Interviews *and* Guidance
Counselors
"case hardening" of, 143
choice of, 136f
training of, 18, 20, 198, 166
types of, 17
Critical ratio
meaning and use of, 83f
significant, 84
Cross section in samples, 52
Curriculum revision, 18, 29

D

Deficiency
and lack of aptitude, 108
tests for, 107
Demonstration interviews, 198
Diagnosis
as process of studying student, 34
general guideposts of, 140
what to look for in, 35
Diagnostic tests, 107
Dictionary of Occupational Titles, 112
Disabilities, diagnosis of, 37; *see also* Deficiency

E

Education and guidance, 14
Educational problems, 141
identification of, 152
Equated I. Q., 93f; *see also* Intelligence quotient
Error, in prediction, 69
in coefficient of correlation, 70f
in teachers' judgment, 89f
Error, in prediction (cont'd)
standard, of the average, 79ff
Expense of minimum testing program, 138
Extra-curricular activities
as guidance resource, 17
evaluation of, 104

F

Faculty, and guidance viewpoint, 136f
Failures among low-ability students, 32f
Family, adjustment problems in, 142
background, 39
identifying problems in, 160
sex differences in problems in, 161
success in treating problems in, 144
Family of occupations, concept of, 148
Feeblemindedness and index of intelligence, 94
Films for guidance use, 206
Financial problems, 142
identification of, 155
success in treating, 144
Follow-up as a guidance function, 17
Frequency of occurrence of problems, 140f
Fryer, D., 96

G

General College, University of Minnesota, 140f
George-Deen Act, 193
Grade placement, 16

Grades, as measures of achievement, 37
and intelligence, 97
correlation with test scores, 98
Graphic frequency distribution, 57
Group differences, 78
Guidance and education, 14
and educational standards, 29
and rural school, 19
as a big city activity, 18ff
conflicting theories about, 21f
constituents of, 15
controlling factors in establishing program of, 18
differences in programs of, 18
expense of program of, 15
functions of, 16f
need for, in education, 13ff
number of schools having program of, 19
plans and methods for, 134
popular appeal of, 20
problems in, 15
services of North Dakota program of, 196f
Guideposts for counseling, 172f

H

Health, adjustment problems in, 142
as factor in guidance, 16
identifying problems in, 157
in diagnosis of student problems, 39
officer, 17
Hints for testing academic ability, 97f
Homeroom, conflicting theories about 21f
How to Counsel Students, 169
How to Read Rapidly and Well, 153

I

Incurable problems, 144
Information needed about student, 35ff
In-service training, facilities for, 20
as guidance program develops, 18
of high-school teachers in North Dakota, 198, 196, 200
Intelligence quotient, meaning of, 92
and adult occupational level, 94ff
cautions regarding I. Q., 93
equated I. Q., 93f
Interest, definition of, 38
examples of clinical analysis of, 116
tests of, 113ff
types of, 115f
Interpolation, use of, 55
Interquartile range, 51
Interviews and counseling, 164ff
as method of measuring personality, 122
purposes of, 165
skill in, 166f
suggestions for, 175
ways of thinking of, 168f
Iowa High School Content Examination, 106
Iowa Every Pupil Tests of Basic Skills, 105
I. Q., *see* Intelligence quotient

J

Job opportunities, 39
Judging students, 88ff, 97

K

Kuder Preference Record, 118f

L

Large school and division of guidance duties, 17
Laziness among students, 29
Library of occupational information, 192
Lock-step tradition in school program, 16
Low-ability students, 32f

M

Maryland state guidance service, 193
Maryland Youth Survey, 14
Mathematics, tests for deficiencies in, 107
Meaning of test, 75ff; *see also* Validity
Measurement, basic principles of, 73ff
Mechanical aptitude, 109ff
Mental age, 93
Mental hygiene point of view, 166
Merrill Palmer Test, 94
Methods of treating student problems, 169
Metropolitan Achievement Tests, 105
Minnesota Home Status Index, 127
Minnesota Occupational Rating Scales and Counseling Profile, 111f
Minnesota Paper Form Board Test, Rev., 110f
Moore, B. V., 165
Motivation, 154
Myers, G. E., 16

N

New York Regents' Inquiry, 14
Normal curve, meaning of, 45
    properties of, 79
    theory of, 57
Norms, in buying tests, 85f
    age norms, 60
    choice of appropriate, 61
    establishing own, 85f
    grade norms, 60
    standard score norms, 60f
    versus standards, 60, 90f

O

Observation and ratings by instructor, 207
Observation based on test behavior, 88f
Occupational ability profile
    advantages and limitations in use of, 151
    examples of, 149
    meaning of, 148
Occupational adjustment and level of I. Q., 94ff
Occupational Information and Guidance Service of U. S. Office of Education, 133
Occupational Reprints and Abstracts, 134
Ohio State University Psychological Test, 100
Order of frequency of problems, 141ff
Otis Self Administering Tests of Mental Ability, 100

Outside work and school grades, 156
Overachievement, meaning of, 28
reasons for, 29
Over-reacting to daily situations as symptom, 159
Oversocialization, 157

P

Percentile rank, 57ff
Performance tests, 112
Personal Audit, The, 125f
Personality adjustment problems, 157ff
and teacher's grades, 31
indicators of, 120
methods of measuring, 122
reasons for studying, 121
tests of, 123f
Physical handicaps, 142, 157
Physical status, indications of, 126
Pintner-Paterson Performance Scale, 94
Placement as phase of guidance, 17
Post-high-school training, 17
Practical Study Aids, 153
Practicality in buying tests, 86
Prediction, explanation of, 62
efficiency of coefficient of correlation in, 71
of school grades, 37
use of coefficient of correlation in, 67f
Pressy Senior Classification Tests, 101
Principles of interviewing, 166
Problems, and diagnosis, 140
as claimed by student, 146
as diagnosed by counselor, 146
Problems, and diagnosis (cont'd)
average number of, per case, 143
frequency of occurrence, 140f
level of severity, 143
Programs, student class, 16, 155

Q

Qualifications of good counselors, 166
Quartiles, 51

R

Range, 46f
Rank order correlations, 71f
Rating scales, 122
and observation by instructors, 207
Reading problems, as disabilities, 29, 108
affecting time limit tests, 31
and intelligence testing, 97
number of, among college freshmen, 107
Records in guidance program, 17
importance of interview records, 180f
in North Dakota plan, 196, 198f
need for keeping, 40
record keeping system, 134
sample of interview notes, 182
types of information needed for, 35ff
use of check lists of student problems, 184
used in classification of students, 16

Reliability of a test, 74f
corrected odd even, 75
in buying tests, 85
reliability coefficient, 75, 98
test-retest, 75
Rural schools and guidance facilities, 19

S

Scatterdiagram, as aid in diagnosis, 26ff
showing relation between ability and achievement, 26
School board, in relation to guidance program, 18
Science Research Associates, 133
Scoring, costs of, 86
in standardized tests, 102
Severity of problem, 143
Sex differences in interests, 115
in school work, 32, 104, 154
in social and family adjustments, 161
Short cuts in statistics, 52ff
Significance of difference between averages, 80
Sims Score Card for Socio-Economic Status, 127
Small schools
and guidance facilities, 19
and need for counseling in, 17
and withdrawal rates in, 19
number having counselors, 18
number of, 18
Smith-Hughes Act, 193
Social and personal problems, 157f; *see also* Personality
Socio-economic background, judging the, 126
Special aptitude, tests for, 109f
Special deficiencies, tests for, 107
Staff clinic, 137
Standard achievement tests, 102
Standard deviation, explanation of, 47ff
example of, 54
Standard error of the difference, explanation of, 81ff
formula for, 82
Standard error of the average, explanation of, 78ff
formula for, 79f
Standard score norms, 60
Stanford Achievement Test, 106
State supervisor, duties of, 194ff
State-wide testing, 98
Strong Vocational Interest Test, 117f
Study habits and overachievement, 31
Studying Effectively, 153
Success in solving student problems, 144
Supervision and methods in community guidance program, 191
Symptom and cause, 144

T

Teachers, classroom, as type of counselor, 17
Test scores, meanings of, 124
Testing, as a counseling help, 20f
Testing program, absolute minimum, 137
Tests, in counseling, 14
and aspects of behavior, 89
as sample of behavior, 89
as standardized observation of behavior, 88f

Tests, in counseling (cont'd)
dangers in misusing, 21
for special deficiencies, 107
guideposts in buying, 84ff, 122f
interest, 113ff
kinds of, 91f
pencil and paper, 91
performance, 91
right and wrong answers on, 91f
Treatment, general methods of, 169

U

Underachievement, examples of, 28
reasons for, 29
Undersocialization, 158
Unique pattern of problems for each student, 143

V

Validity, explanation of, 75ff
in buying tests, 85
Vocational adjustment, problems in, 147
and frequency of change, 114
appropriate choice of, 148
choices of bright students, 33
inappropriate choice of, 148
no choice of, 148
sources of vocational information, 134
vocational advice and guidance functions, 17
types of, 141
Vocational Guide, 134
Vocational Trends, 133

W

Williamson, E. G., 169
Withdrawal among low-ability students, 32
rate of, in small school, 19
working up to capacity and withdrawal, 25f
World of work, 39, 133
Wrenn, C. G., 153